Part - B

खण्ड- ख

अध्याय-५ : साठोत्तरी उपन्यास : (१)

अध्याय-६ : साठोत्तरी उपन्यास : (२)

अध्याय-५

साठोत्तरी उपन्यास (१)

इस अध्याय में हम केवल उन लेखकों की साठ के बाद की रचनाओं के अनुशीलन को प्रस्तुत कर रहे हैं जिनका औपन्यासिक कृतित्व प्रेमचन्द अथवा प्रेमचन्दोत्तर युग से प्रारम्भ हुआ है, पर जो अब भी प्रासंगिक नहीं बने हैं और यथार्थ के नये आयामों को आधुनिक भावबोध के साथ प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। विवेच्य काल में विपुल औपन्यासिक साहित्य लिखा गया है, क्योंकि यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि यह विधा जहां उत्कृष्ट साहित्यिक स्तर की रचना देने के लिए दुष्कर है, वहीं साधारण कोटि की कृति देना इसमें बड़ा सरल काम है। अत: केवल उन रचनाओं का चयन किया गया है जो वस्तु अथवा शिल्प की दृष्टि से रचनाधर्मिता की ऊंचाइयों का स्पर्श कर सकी हैं। इसके पूर्व कि हम इन रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत करें, विवेच्य काल के युगीन सन्दर्भों को समझ लेना अत्यावश्यक है।

राजनीतिक दृष्टि से यह काल मोहभंग का है। शान्तिमय सह-अस्तित्व, पंचशील, हिन्दी-चीनी भाई-भाई की लम्बी चौड़ी तफसीलों के बावजूद बीस अक्तूबर १९६२ के दिन चीन ने भारत पर आक्रमण किया। सामरिक दृष्टि से हम सोये हुए थे। युद्ध के बाद युद्ध की तैयारियाँ प्रारम्भ होती हैं। परिणाम स्पष्ट था -- पराजय। चीन ने हमारी कुछ भूमि पर कब्जा कर लिया जो आज भी उसके पास है। बीस नवम्बर १९६२ को बराबर एक महीने बाद अन्य देशों की कटु आलोचना के कारण चीन ने एक तरफा युद्धविराम किया। सुरक्षामन्त्री कृष्ण मेनन को त्यागपत्र देना पड़ा। पण्डित नेहरू की आस्था, इज्जत व लोकप्रियता पर करारा प्रहार हुआ और इसी वातावरण के बीच सन् १९६४ की २७ मई को उनका निधन हुआ। उनके पश्चात् लालबहादुर शास्त्री प्रधान-मन्त्री हुए, जिन्होंने अठारह महीने के अल्पकाल में ही अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की। उन्हीं के समय में सन् १९६५ में पहले कच्छ सरहद पर और बाद में छाम्ब विस्तार में पाकिस्तान ने आक्रमण किया जिसका भारत ने न केवल शौर्यपूर्वक प्रतिकार किया, प्रत्युत पाकिस्तान के कुछ विस्तार

पर कब्जा भी कर लिया । यूनो के भूतपूर्व महामन्त्री उथां के प्रयत्नों से युद्ध- विराम हुआ । सन् १९६६, ११ जनवरी को इसी सन्दर्भ में ताश्कन्द-वार्ता में सम्मिलित होने के लिए गये शास्त्रीजी की शंकास्पद स्थितियों में मृत्यु हुई । कामराज के प्रयत्नों से श्रीमती इन्दिरा गांधी भारत की प्रथम महिला प्रधान मन्त्री हुईं । १९६९ के बैंगलोर अधिवेशन के पश्चात् कांग्रेस इन्डीकेट-सिन्डीकेट में विभाजित हुई । श्री मुरारजीभाई देसाई , निलम संजीव रेड्डी, कामराज जैसे पुराने कांग्रेसी शासक कांग्रेस से अलग हुए । इसी वर्ष श्रीमती इन्दिरा गांधी ने बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया । १९७१ का आम चुनाव `गरीबी हटाओ` के नारे पर इन्दिरा गांधी ने जीता । उसी वर्ष पाकिस्तानी सैन्य के अमानुषी अत्याचारों से पीड़ित एक करोड़ निराश्रित शरणार्थी पूर्वी-पाकिस्तान से भारत में आये । भारत सरकार को इसमें काफी आर्थिक नुकसान उठाना पड़ा । दिसम्बर १९७१ में पुन: भारत-पाकिस्तान के बीच युद्ध छिड़ गया । भारतीय सैन्य तथा बांगला मुक्तिवाहिनी के प्रयत्नों से सन् १९७२ में पूर्वी-पाकिस्तान एक स्वतन्त्र देश -- बांगला देश -- के रूप में अस्तित्व में आया और शेख मुजिबुर रहमान उसके प्रथम राष्ट्रप्रमुख हुए ।

इस युद्ध से श्रीमती इन्दिरा गांधी को अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई । भारतीय संस्कृति की दुहाई दी जाने लगी । राम के लंका विजय को याद किया जाने लगा । श्रीमती इन्दिरा गांधी की तुलना झांसी की रानी लक्ष्मीबाई जान आफ आर्क तथा दुर्गा से होने लगी । चित्रकार हुसैन ने दुर्गा के रूप में इन्दिरा जी का एक चित्र भी बनाया जो बाद में संसद में लगाया गया । परन्तु थोड़े ही समय में बंगला देश सम्बन्धी मोहभंग की स्थिति भी सामने आयी । बंगबन्धु मुजिबुर रहमान की हत्या हुई और अब बंगला देश पुन: शत्रुवत व्यवहार कर रहा है । दूसरी ओर भारत-पाकिस्तान के बीच सिमला-करार हुए, परन्तु पाकिस्तान की इसके बाद की तथा मौजूदा गतिविधियों से उसकी निष्ठा असंदिग्ध नहीं प्रतीत होती । सन् १९७४ में भारत ने राजस्थान की मरूभूमि पोकरण में शान्तिमय हेतुओं के लिए प्रथम अणु-विस्फोट किया । उसी वर्ष बढ़ती हुई महंगाई, रोजी-रोटी तथा व्यापक व्यापक भ्रष्टाचार के खिलाफ गुजरात में नवनिर्माण तथा बिहार में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में अनेक छात्र आन्दोलन हुए । सन् १९७५ , १२ जून के दिन

इलाहाबाद हाईकोर्ट के मुख्य न्यायमूर्ति श्री जगमोहन सिंहा ने अपना ऐतिहासिक फैसला दिया जिसके अनुसार श्रीमती इन्दिरा गांधी के चुनाव को उनकी भ्रष्टाचारी नीतियों के कारण गैरकानूनी घोषित किया गया । राजनारायण, न्यायमूर्ति जगमोहन सिंहा तथा राजनारायण के एडवोकेट श्री शान्तिभूषण ने एक तहलका मचा दिया । प्रजातान्त्रिक प्रणालिका के अनुसार इन्दिराजी को त्यागपत्र देकर सुप्रिम कोर्ट में अपील करनी चाहिए थी, परन्तु ऐसा नहीं हुआ । २६ जून १९७५ को उन्होंने देश में आपात्कालीन स्थिति की घोषणा की और मीसा के अन्तर्गत हजारों छोटे-बड़े नेताओं को जेलों में ठूंस दिया । देश के अनेक ~~बुद्धिजीवी~~ बुद्धिजीवियों तथा साहित्यकारों ने भी इसका विरोध किया । उन्हें भी जेलों में ठूंस दिया गया जिनमें रेणु, दुर्गा भागवत आदि प्रमुख हैं । पूरा देश एक बहुत बड़ा जेलखाना बन गया । इन्हीं दिनों `डायनेमाइट` प्रकरण के कारण बड़ौदा का नाम भारत में गूँज उठा था । परिवार नियोजन को लेकर देश में, विशेषत: उत्तर भारत में अनेक ज्यादतियां हुई । दसों दिशाओं में दरबारी राग की ध्वनियां गूंजने लगीं । चाटुकारों की बन आयी । श्रीमती गांधी को ही भारत करार दिया गया । इन स्थितियों में आम चुनाव कराके स्वयं को पुन: स्थापित एवं प्रतिष्ठित कराने की मंशा से सन् १९७७ में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने आम चुनाव घोषित किये । जार्ज फर्नान्डीज़ के अतिरिक्त प्राय: सभी बड़े नेताओं को छोड़ दिया गया ।

यहां से भारतीय राजनीति में एक नया मोड़ आया । देश के इतिहास में पहली बार कुछ प्रमुख विरोधी दलों ने मिलकर `जनता पक्ष` का निर्माण किया जिसने उत्तर भारत के सभी राज्यों में अभूतपूर्व सफलता हासिल की । स्वाधीनता के बाद पहली बार कांग्रेस का विकल्प सामने आया और श्री मुरारजीभाई देसाई प्रथम अउत्तरप्रदेशीय प्रधान मन्त्री हुए ।

दूसरी ओर इन्हीं दिनों में हमारी राष्ट्रीय अस्मिता भी बुझने लगी थी । महान् राष्ट्रवादी पण्डित दीनदयाल उपाध्याय की हत्या इन्हीं दिनों में हुई । डॉ० राम मनोहर लोहिया, डॉ० ज़ाकीर हुसेन, डॉ० राधाकृष्णन्, डॉ० होमी भाभा, डॉ० विक्रम साराभाई प्रभृति महान् राष्ट्रवादी चिन्तकों तथा आंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिकों के निधन भी इन दिनों में हुए ।

पूर्ववर्ती अध्याय के प्रारम्भ में ही यह निर्दिष्ट किया जा चुका है कि स्वाधीनता के उपरान्त हमारे यहां एक उल्टा चक्र चला । स्वाधीनता पूर्व की सारी बातें , सारे प्रण, सारी नीतियां स्वाधीनता के बाद उलट गयीं । कदाचित हम अधिक मानसिक दासता के शिकार हुए । अपने देश का विकास उसकी अपनी प्रकृति, परम्परा और एवं संस्कृति के अनुरूप होना चाहिए था, उसके स्थान पर पाश्चात्यीकरण का जो दिवास्वप्न पण्डित नेहरू ने देखा उसने देश को धराशायी व दिवालिया बना दिया । गांधी अब केवल राष्ट्रीय समारोहों में सिमट कर रह गये । सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता ' पंच महाभूत ' में इस बात पर बड़ा व्यंग्य किया गया है । नेताओं के आचार-विचार तथा जीवन में अन्तर निरन्तर बढ़ता ही गया । अपने सारे समाजवादी नारों के बावजूद पण्डित नेहरू तथा इन्दिरा गांधी के समय में देश में भ्रष्टाचार , गरीबी और शोषण बढ़ता ही गया है । नेहरू के समय में ही डा० राममनोहर लोहिया ने यह कटु सत्य आंकड़ों सहित संसद भवन में रखकर विस्फोट किया था कि आज भी देश के कोटि-कोटि जन गरीबी रेखा के नीचे जीवन-यापन करते हैं और जिनकी व्यक्तिगत दैनिक आय अनुमन तीन आने से अधिक नहीं है । गरीबी के स्थान पर गरीब ही हट रहे हैं । गरीबी, बेरोजगारी, महँगाई, भ्रष्टाचार, काला बाज़ार, तस्कर व्यापार आदि दिन दुने रात चौगुने बढ़ रहे हैं । शहीदों का स्थान शोहदों ने ले लिया है और देश का राजनीतिक चित्र ह्रासोन्मुखी तथा घोर कालिमायुक्त होता जा रहा है ।

देश की गति में अवरोध जहां नेताओं की स्वार्थपटुता, क्षुद्रता, कूपमण्डूकता एवं संकीर्णता के कारण पैदा हुआ है, वहां आज़ादी के बाद भी उसकी कार्य-प्रक्रिया की अपरिवर्तनशीलता भी उतनी ही जिम्मेदार है । नौकरशाही (Bureaucracy) ने भ्रष्टाचारी व्यापारियों, तस्करों तथा भ्रष्ट नेताओं के साथ हाथ मिला लिया है जिसके परिणाम स्वरूप देश में चारों तरफ भयंकर मूल्यहीनता नज़र आ रही है ।

टूटते गाँव, टूटते परिवार, बड़े होते जाते महानगर तथा उसकी भिन्न ज़िन्दगियां, औद्योगीकरण और मशीनीकरण आदि ने एक अजीब शून्यावकाश पैदा कर दिया है । शोर-शराबा है, स्पष्ट स्वर नहीं । भीड़ में आदमी खो गया है । दिशाहारा युवा-वर्ग बेचैन, चेतनाशून्य और लक्ष्यहीन होता जा रहा है ।

इधर आज़ादी के पश्चात् बढ़े भ्रष्टाचार ने नव-धनिक वर्ग को जन्म दिया है जिसके पास अटूट सम्पत्ति है पर संस्कारों का नितान्त अभाव है। जिसकी क ताकत रूपया है। रूपये के इस बढ़ते प्रभाव ने सारे नैतिक मूल्यों की कमर तोड़ दी है। भ्रष्टाचारी रूपयों ने -- काले धन ने -- फिल्मों की चकाचौंध बढ़ा दी है और लक्ष्यहीन युवा-वर्ग उसकी चपेट में 'मारजुआना' के नशे की भांति आता जा रहा है।

पश्चिम की भौतिकतावादी सभ्यता तथा चिन्तन ने व्यक्ति को नितान्त अकेला, निस्सहाय व अजनबी बना दिया है। विगत दो युद्धों की विभीषिका ने उनकी आस्था को झकझोर डाला है। व्यक्ति नितान्त आत्मकेन्द्रित व भौतिक होता जा रहा है। मानवीय प्रेम के स्थान पर चीजपरस्ती बढ़ रही है। भौतिकता की इस दौड़ ने व्यक्ति के चैनोंशुकून को छीन लिया है। परिणाम स्पष्ट है -- हिप्पी और बिटल्स : जिनका प्रभाव हमारे यहां भी बुरी तरह से बढ़ रहा है। हमारा क्रीम -- बुद्धिधन -- तो योरोप और अमेरिका जा रहा है, बदले में बिटल्स और हिप्पी मिल रहे हैं। अजीब व्यापार विनिमय चल रहा है।

महानगरों पर पश्चिम का, नगरों पर महानगरों का तथा गांवों पर नगरों का दबाव बढ़ रहा है। कम होने के बजाय अंग्रेजीयत की अहमियत बढ़ रही है। गांव तथा उनके लोग भी अपने सहज उन्मुक्त प्राकृतिक जीवन से दूर हटते जा रहे हैं। जटिलता वहां भी बढ़ रही है। दोहरे जीवन-मूल्यों ने व्यक्ति के दोगलेपन व खोखलेपन को बढ़ा दिया है।

बढ़ती हुई दिशाहीन शिक्षा-पद्धति ने बेरोजगारी को बढ़ाया है। स्त्री-शिक्षा ने जहां इस वर्ग को आत्मनिर्भर किया है, वहाँ नवीन सामाजिक समस्याओं को जन्म भी दिया है। स्त्री-शोषण का एक नया आयाम शिक्षित अविवाहित व्यवसायी लड़कियों के रूप में सामने आता है। उनकी सेक्स-जनित कुण्ठा तथा उत्तरकालीन जीवन के असहाय एकाकीपन से एक नवीन नारकीयता एवं मानव-ट्रेजड़ी का निर्माण होता है।

बढ़ते हुए व्यक्तिवाद ने स्त्री-पुरुष की अहं वृत्ति को अत्यधिक उत्तेजित किया है, जिसके परिणामस्वरूप दाम्पत्य जीवन में दरारें पड़ रही हैं और परिवार टूट रहे हैं। इसमें छोटे-छोटे शिशुओं की स्थिति त्रिशंकु-सी होती जा रही

है। भौतिकवादी चिन्तन-प्रणाली ने जीवन-मूल्यों में अभूतपूर्व परिवर्तन उपस्थित किया है। तथापि मध्यवर्गीय समाज नये-पुराने संस्कारों के बीच पिस रहा है। उच्च तथा एकदम निम्न वर्ग को नैतिक मूल्यों से कोई सरोकार नहीं है।

संक्षेप में राजनीति, समाज, धर्म, शिक्षा आदि सभी क्षेत्र में समस्याओं से बुरी तरह ग्रस्त हैं एवं आक्रान्त हैं जिसका आकलन उपन्यासों में प्रगतिवादी तथा आधुनिकतावादी-अस्तित्ववादी उपन्यासकार अपने-अपने ढंग से कर रहे हैं।

इधर की साहित्य-समीक्षा में साठोत्तरी साहित्य की विशेष चर्चा हो रही है,[१] इसका कारण भी यही है कि उपर्युक्त सामाजिक-राजनीतिक-वैश्विक स्थितियों का स्वानुभूत, निरपेक्ष, अरोमानी, यथार्थमूलक आकलन जितना इधर हुआ है या हो रहा है उतना पहले कभी नहीं हुआ। आधुनिक जीवन की विरूपताओं क, विसंगतियों एवं विभीषिकाओं को साठोत्तरी रचनाकारों ने वैयक्तिक स्तर पर भोगा है और उसे कलागत निरपेक्षता एवं निर्ममता के साथ अपने उपन्यासों में अंकित किया है। ये उपन्यास अपने प्रारम्भिक रोमानीपन, भावुकता, नैतिकता, उपदेशवादिता आदि दूषणों को छोड़ता हुआ यथार्थ के नये आयामों की सृष्टि में आगे बढ़ रहा है।[२] डा० नेमिचन्द्र जैन ने इस आधुनिक उपन्यास की विशेषताओं को उद्घाटित करते हुए लिखा है: "पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में हिन्दी उपन्यास अपनी सार्थकता के लिए कई नये परिप्रेक्ष्य खोजता रहा है और अब उसमें

---

१. 'हिन्दी लघु उपन्यास' : डॉ० घनश्याम 'मधुप' : पृ० ११३।

२. तुलनीय : "Hindi Novel, in all these years, has undergone a Drastic change, so far as its content is concerned. No more of the escapist romances new. Gone are the times when the novelist went on pouring his adolescent bickerings and dreams and fears on the pages of a book and asked the reader to shed an equal amount of tears over the discription of his less of uirginity, Besides, the Hindi novelist of today refuses to accept the conclusions pertaining of values. Instead his conclusions. FHow from life itself."
:Kamleshwar: ' Seminar on Creative Writing in Indian Languages (1972) :P47.

व्यक्ति के आन्तरिक सत्य का बाह्य परिवेश के साथ समंजन, रोमाण्टिक दृष्टि की बजाय जीवन के यथार्थ साक्षात्कार का प्रयास, भावुकता या भावप्रधानता के स्थान स्थान पर तीखापन, कलात्मक संयम और निर्ममता आदि विशेषताएं क्रमश: अधिकाधिक दीखने लगी हैं। अब उपन्यासकार प्राय: यह प्रयत्न करता है कि गहन से गहन अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए भी साधारण जीवन के यथासम्भव सहज और दैनन्दिन पदार्थों का ही सहारा ले। बल्कि शायद उसे यह अनुभव होता है कि गहनतम सत्य और उसकी अनुभूति साधारण जीवन में ही अधिक सम्भव है।'[१]

उक्त परिस्थितियों के दबाव से मानव-सम्बन्धों में भी एक विशिष्ट बदलाव आया है। सम्बन्धों के इस बदलते हुए यथार्थ की अगणित मुद्राएं १९६० के बाद के उपन्यासों में ग्राम, नगर तथा महानगर के त्रिस्तरीय परिवेश में उपलब्ध होती हैं। ये मुद्राएं निम्नमध्यवर्गीय समाज में आर्थिक स्तर पर जिए जा रहे संघर्ष की पृष्ठभूमि में उभरी हैं। इसमें शिक्षित आधुनिका नारी के सम्बन्धों का एक टूटता बनता और बिखरता संसार है। पुरुष इस संसार में अधिकाधिक भावनाहीन होता गया है। आर्थिक शोषण तथा व्यवस्था-तन्त्र और नौकरी-पेशा की किले-बन्दियों की सर्व व्यापक प्रक्रिया से गुजरते हुए वह वह अवसरवादी समझौतापरक तत्वों का शिकार होकर जड़ एवं भावनाहीन हो गया है। डा० अतुलवीर अरोड़ा के शब्दों में --

'सम्बन्धों का यह संसार केवल स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी अथवा प्रेमी-प्रेमिका का संसार नहीं है, प्रत्युत इसकी पकड़ समूचे मानवी-सन्दर्भ, मानवी-स्थिति एवं मानवी-परिप्रेक्ष्य पर है। इन्हें व्याख्यायित करने के लिए आज के हिन्दी उपन्यासकार को अनुभवों के व्यापक धरातलों पर से गुजरना पड़ा है और कई बार 'अनुभूति की प्रामाणिकता' के प्रकाशन के लिए वह अपने ही जीवन की कथाएं कहता और जुटाता चला गया है। इस बिन्दु पर उसकी रचना-मुद्रा पने दंश से भरपूर है।'[२]

---

१. 'विवेक के रंग' : पृ० २९७।

२. लेख : 'आधुनिकता के आईने में हिन्दी उपन्यास' : परिशोध -१७, अक्तूबर १९७२ : पृ० ५७।

हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में कदाचित् पहली बार सन् '६० के बाद स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी और प्रेमी-प्रेमिका के मिथुन-सम्बन्धों पर दृष्टिपात किया गया है प्योरिटन आलोचकों की नाराज़गी मोल लेते हुए खुली आंख से दृष्टिपात किया गया है। रमेश बक्षी (बैसाखियोंवाली इमारत), शरद देवड़ा (टूटती इकाइयां), महेन्द्र भल्ला (एक पति के नोट्स), श्रीकान्त वर्मा (दूसरी बार) प्रभृति उपन्यासकार अपने समस्त दम्भ एवं अहम्मन्यता के साथ भी हिन्दी उपन्यास के बिम्ब में एक झलक भर जाता है।[१]

आज के उपन्यास की एक ~~प्रमुख~~ प्रमुख विशेषता है--साधारण मनुष्य की अवधारणा। जो इधर अधिकाधिक उभरती गई है। मनुष्य की इस मुद्रा को कुछ लोगों ने 'लिटिल मैन' (little man) भी कहा है।[२] इसका विरोध करते हुए डा० रमेश कुन्तल मेघ ने समुचित ही लिखा है : "कुल मिलाकर मैंने मेरा एक दिन का जीवन एक मामूली आदमी का जीवन है। इस तरह सबसे पहले मैं एक व्यक्ति --'मामूली मैं' हूं, मैं न महान मानव हूं, न ही लघु मानव। यदि हूं तो एक मानव : एक विशेष का अनुभव करने वाला।"[3] इस प्रकार इधर के साठोत्तरी उपन्यासों में मनुष्य की इस साधारण छवि को उसकी समूची शक्ति-अशक्ति के साथ आकलित करने की चेष्टा हुई है।

साठोत्तरी उपन्यासों की इस संक्षिप्त भूमिका के परिप्रेक्ष्य में अब हम कुछ विशिष्ट उपन्यासों का अनुशीलन करने का यत्न करेंगे।

रेखा (१९६४)

इस उपन्यास में भगवतीचरण वर्मा ने एक आधुनिक समस्या को अपनी पुरानी किस्सागो शैली में प्रस्तुत किया है। समस्या अनमेल व्याह की है, परन्तु उसे भिन्न धरातल पर रखा गया है। 'निर्मला' या 'गबन' की रतन की भांति यहां कोई आर्थिक या पारिवारिक विवशता नहीं है। यहां नायिका रेखा भारद्वाज में आत्म-निर्णय की चेतना के दर्शन होते हैं। वह माता-पिता की इच्छा के विपरीत उनके लाख समझाने-बुझाने पर भी स्वेच्छा से तिरपन साल के अंतर्राष्ट्रीय ख्याति-

---

3. आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण' ; डॉ. रमेश कुन्तल मेघ : पृ. ४३६।
१. द्रष्टव्य : परिशोध-१९७२ (अक्तूबर): पृ० ५८। २. वही : पृ० ६१।

प्राप्त दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर व विभागाध्यक्ष प्रभाशंकर से विवाह-सूत्र में बंधती है।

रेखा बीस वर्षीय अनिन्द्य सुन्दरी तथा एम० ए० फाइनल (दर्शन शास्त्र) की प्रतिभासम्पन्न छात्रा है। प्रभाशंकर अपने विषय के एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं। समय एवं नियमों के पाबन्ध होने के बावजूद छात्र-छात्राओं में प्रिय (?) एवं आदरणीय हैं। वैसे उपन्यास में कहीं भी उनकी विद्वता के दर्शन नहीं होते। समूचे उपन्यास में उनका व्यक्तित्व लेखक द्वारा आरोपित व संचालित प्रतीत होता है। वैसे वे केवल डी०लिट० में ही मार्गदर्शन का दायित्व उठाते हैं और वह भी एक समय में केवल एक को ही लेते हैं। पर रेखा के लिए एम० ए० डिजर्टेशन के निबन्ध में मार्गदर्शक होना स्वीकार करते हैं। इससे वे दोनों परस्पर निकट आते हैं और श्रद्धातिरेक में 'रेखा भारद्वाज' 'रेखाशंकर' होना स्वीकार कर लेती है।

प्रोफेसर का वैवाहिक जीवन अल्पकालिक रहा। पत्नी के देहान्त के उपरान्त कुछ ही समय में वे एक अजीब तरह तनाव अनुभव करने लगे थे। परन्तु यह तनावपूर्ण स्थिति अधिक नहीं रही क्योंकि देवकी नामक एक विवाहिता स्त्री रिक्त स्थान-पूर्ति के लिए आ गयी। उसका पति एक मरियल-सा व्यक्तित्वहीन आदमी था। वह हेड मास्टर पद का प्रत्याशी था और डा० प्रभाशंकर चुनाव - कमेटी में थे। उन दिनों वे प्रयाग विश्वविद्यालय में रीडर थे और आंतर्राष्ट्रीय ख्याति मिलनी आरम्भ हो गयी थी। कई वर्षों तक देवकी का नशा उन पर छाया रहा। देवकी के सभी बच्चे भी कदाचित उनके ही थे। बाद में दिल्ली चले आये। कई बच्चों की मां देवकी में भला उनकी क्या दिलचस्पी हो सकती थी। पर देवकी उनसे चिपकी रहती है क्योंकि उसका एक आर्थिक पक्ष भी है। प्रोफेसर शिकार खेलते रहते हैं। देवकी के इन शब्दों में यह बात स्पष्ट हो जाती है — 'शिकार का तो शौक इन्हें हैं, लेकिन शेर-चीते आदि जंगली जानवरों के शिकार का शौक नहीं है। यह शहर की आसपास उड़ने वाली चिड़ियों का ही शिकार करते हैं, और इसमें यनका निशाना अचूक होता है।'[1]

---

१. 'रेखा' : भगवतीचरण वर्मा : पृ० २३।

अत: रेखा से विवाह के पूर्व वे अनगिनत चेक काट चुके थे और अब उनकी जवानी के खाते में अधिक `बैलेन्स` नहीं था। रेखा भावुकता और श्रद्धातिरेक में उस `यंग प्रोफेसर`[1] से शादी तो कर लेती है, परन्तु उसकी युवकोचित वासना की प्यास प्रोफेसर से नहीं बुझ पाती। वह रात-रात भर तड़पती रहती है। उसके जीवन का खतरनाक मोड़ तब आता है, जब युवा रामशंकर (देवकी का पुत्र) -- जो देखने में बिलकुल प्रभाशंकर जैसा था -- जर्मनी जाने से पहले उसकी मां के साथ रेखा के यहां आता है। रेखा उसका सब शापिंग करा देती है। बढ़िया-बढ़िया चीजें दिलाती है। गाड़ी में उसके निकट बैठते समय वह एक अज्ञात आकर्षण का अनुभव करती है और अनायास उसका हाथ उसके कन्धे पर चला जाता है। यौवन की मादक सुगन्ध का अनुभव उसे पहली बार हुआ। परन्तु उसकी चेतना व विवेक ने उस दिन उसकी रक्षा कर ली। वैसे उसकी मानसिक नैतिकता व पवित्रता में एक छेद उस दिन जरूर पड़ गया। वह छेद शनै: शनै: ही बढ़ता गया। उसके भाई अरुण के मित्र सोमेश्वर दयाल ने जब उसके अपने बाहुपाश में लिया तब वह ऊपर-ऊपर से मना करती रही, पर भीतर से वह उस पागल प्रवाह में बरबस बह रही थी। सोमेश्वर से शारीरिक सम्बन्ध होने के बाद उसके मानस में चलने वाले संघर्ष का चित्र लेखक ने बखूबी खींचा है।

हम जिसे पाप समझते हैं, एक बार लेने के पश्चात्, उसका भय कम हो जाता है और धीरे धीरे हम उसके आदी हो जाते हैं। उपन्यासकार ने रेखा के सन्दर्भ में इस तथ्य को सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है। अब वह खुलकर खेलना सीख गयी है। एक के बाद एक पांच पुरुष उसके जीवन में आते हैं --शशिकान्त, निरंजन कपूर, शिवेन्द्र धीर, मेजर यशवन्तसिंह और डा० योगेन्द्र मिश्र। शशिकान्त उसे अचानक एक सांस्कृतिक कार्यक्रम में मिसेज चावला के साथ मिल जाता है और हाल में साथ साथ बैठने से वे दोनों स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा घनिष्ठता का प्रथम परिचय प्राप्त करते हैं। वह डा० प्रभाशंकर का भूतपूर्व छात्र था तथा विदेश में भारतीय सचिवालय में किसी अच्छे पद पर था। गुरु-दक्षिणा चुकाने का अच्छा (?) तरीका वह ढूंढ निकालता है। निरंजनकपूर मिसेज रत्ना चावला की पुत्री शीरीं का भावि

---

१. प्रभाशंकर का बदन गठा हुआ था, अत: वे चालीस से ज्यादा नहीं लगते थे और लेखक के अनुसार उनमें गजब का आत्मविश्वास भी था।

पति है, पर मिसेज रत्ना चावला अपने दामाद के साथ खूब रंगरेलियां मनाती हैं। शीरीं सौन्दर्य प्रतियोगिता में प्रथम आयी थी पर बकौल निरंजन के उसमें वह गरमी नहीं है जो मिसेज रत्ना चावला में है। रत्नाचावला के द्वारा लेखक ने तथाकथित उच्च वर्ग की उच्चता का पर्दाफाश किया है। रेखा को शीरीं से सहानुभूति अत: वह उसके भावि पति को उसकी मां से छिन लेती है (?)। मसूरी में वे खूब राग-रंग खेलते हैं। पर निरंजन का सिगरेट केस डॉ० प्रभाशंकर के तकिये के नीचे रह जाने से रेखा और निरंजन पकड़े जाते हैं। डॉ० प्रभाशंकर उत्तेजित हो रेखा को मारते और उसे घर से निकाल देने को उद्यत होते हैं किन्तु रेखा के अनुनय-विनय तथा क्षमा-याचना से पिघल जाते हैं। उस दिन से संदेह की काली छाया सदैव उनके आसपास मंडराती रहती है और उनका अमन-चैन खतम हो जाता है।

पर रेखा अधिक दिन संयम नहीं रख पाती। यौन-क्षुधा से सदैव वह पीड़ित रहती है। उसकी आदत नहीं छूटती। हाँ, अब वह अधिक सतर्कता बरतती है। शिवेन्द्र धीर में गजब का आकर्षण था। वह उसे पाना चाहती थी। पर वह नामर्द था। मेजर यशवन्तसिंह से वह बम्बई में मिलती है और डा० योगेन्द्र मित्र को डा० प्रभाशंकर ही बम्बई से दिल्ली रीडर बनाकर लाते हैं। उनकी इच्छा थी कि डा० योगेन्द्र उनके बाद उनका स्थान ग्रहण करें और रेखा ने वह स्थान उसे (?) उसे पहले ही दे दिया।

इन छ: पुरुषों में तो सोमेश्वर का तो गर्भ भी रेखा को रहा था, परन्तु अरुण से यह समाचार पाकर कि अमरिका में सोमेश्वर पागल हो गया, एक पागल का गर्भ धारण करना अनुचित समझकर डॉ० प्रभाशंकर की अनुपस्थिति में 'अबार्शन' करवा देती है। डॉ० योगेन्द्र को छोड़कर अन्यों के साथ उसका सम्बन्ध केवल शारीरिक धरातल पर ही रहा। डॉ० योगेन्द्र को उसने तन-मन से चाहा और तब पहली बार अनुभव किया कि प्रोफेसर के प्रति उसे केवल भक्ति रही है, प्रेम नहीं। प्रेम तो उसने डा० योगेन्द्र से ही किया। रेखा और डा० योगेन्द्र को लेकर युनिवर्सिटी में भी चर्चा होने लगी। एक बार डॉ० योगेन्द्र ने इस सन्दर्भ में डॉ० अरोड़ा पर हाथ भी चला दिया। इन सब बातों से डा० प्रभाशंकर की बड़ी बदनामी हो रही थी।

डॉ० प्रभाशंकर का अहं और विश्वास निरंजन कपूर वाले प्रसंग से टूट जाता है। उस दिन से उनका स्वास्थ्य भी निरन्तर गिरता जाता है। वे भीतर ही भीतर घुटते और टूटते जाते हैं। लो ब्लड-प्रेशर और हृदय के दौरे के हलके प्रहार से वे टूट जाते हैं। डॉ० योगेन्द्र को ओसला युनिवर्सिटी में खास आग्रह करके भेजने का प्रबन्ध प्रोफेसर करते हैं। पहले योगेन्द्र ने रेखा के आग्रह से मना कर दिया था, पर बाद में प्रोफेसर के आग्रह पर वे विदेश जाने के लिए तैयार हो गये। उसी दिन रेखा से इस सम्बन्ध में गरमागरम बहस करते समय प्रोफेसर के दायें पैर को लकवा मार जाता है। रेखा प्रोफेसर एवं डॉ० योगेन्द्र के बीच छटपटाती रहती है। वह देवकी को भी बुला लेती है। प्रोफेसर का स्वभाव और भी चिडचिड़ा हो जाता है। फलत: रेखा डा० योगेन्द्र के साथ विदेश भाग जाने की योजना बनाती है पर ऐन मौके पर फिर एक बार भावुकता की विजय होती है। वह प्रोफेसर को मरणासन्न अवस्था में छोड़कर नहीं जा सकती और गाड़ी लेकर जब एरोड्राम पर पहुंचती है तब प्लेन जा चुका होता है। निराश हो लौटती है तब तक तो प्रोफेसर के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं। ऐसे ट्रेजिक स्थल पर वर्माजी ने कहानी का अन्त किया है। वैसे रेखा बाद में ओसला युनिवर्सिटी में डॉ० योगेन्द्र से मिल सकती है। अत: उसकी स्थिति नितान्त असहाय नहीं कही जा सकती है।

ऐसी कथावस्तु को लेकर गुजराती के उपन्यासकार ईश्वर पेटलीकर ने 'प्रेमपंथ' नामक उपन्यास लिखा है, परन्तु उसकी नायिका ज्यूथिका यौनाकर्षण की अवस्था को लांघ जाने के बाद अपने से बड़ी वय के व्यक्ति के साथ शादी करती है, अत: वहां शारीरिक भूख का प्रश्न नहीं आता। इस उपन्यास में भी वर्माजी ने पाप और पुण्य वाले उक्त प्रश्न को सामाजिक सन्दर्भ में छेड़ा है। नियतिवाद की चर्चा इसमें अनेक स्थानों पर है।[१] वैसे हम परिस्थितियों के हाथों या नियति के चक्र में खिलौने हों चाहे नहीं हों पर वर्माजी के पात्र अवश्य उनके हाथ के खिलौने हैं। रेखा, डॉ० प्रभाशंकर आदि ऐसे ही पात्र हैं। ज्ञानवती यह जानते हुए भी कि शिवेन्द्र घोर नपुंसक है, उससे प्रेम करती है, उसकी कला को प्रोत्साहन देती है, उसके लिए तन-मन-धन लुटाती है, पर फिर भी उसका चित्रांकन कुछ हद तक

---

१. देखिए : 'रेखा' : पृ० ८८, १६४, २२२, २४२, २४४, २४८, २६३।

सही हुआ है । अरुण तथा डा० योगेन्द्र मिश्र का चित्रांकन भी स्वाभाविक व विश्वसनीय बन पड़ा है । कहीं कहीं पर पात्रों का अतिज्ञान खलने लगता है । उदाहरणार्थ पृ०६२ पर निरंजन कपूर को प्रथम बार देखते ही रेखा का यह कहना कि " इसके पास शिक्षा है सकती है, लेकिन इसके पास संस्कार नहीं है । इसके पास अनुभव हो सकते हैं,लेकिन इसके पास अन्तर्दृष्टि नहीं है ।" थोड़ा अत्युक्तिपूर्ण लगता है ।

"रेखा" आज की काम-जनित समस्याओं पर आधारित उपन्यास है । पर उपन्यास की संरचना पर समस्या का हावी होना तथा तत्सम्बन्धी "एप्रोच" का पुरानापन "रेखा" को नये उपन्यासों की पंक्ति में नहीं रखता । वर्माजी कथ्य की अपेक्षा उसकी बुनावट पर अधिक बल देते हैं तथा उनमें मूल्यांकन की दृष्टि भी सदैव ही रहती ही है । यह दो बातें नये प्रभावों से परिचित रहने के बावजूद उन्हें नयों की पंक्ति में आने से रोक देती है । डा० त्रिभुवनसिंह के अनुसार "रेखा" में वर्माजी ने रूढ़िगत परम्परा से हटकर एक स्वेच्छाचारिणी नारी का चित्रण किया है । " रेखा को उपन्यासकार की सहानुभूति मिली है, और पाठक भी उससे घृणा नहीं करता, पर ऐसे चरित्रों से समाज का कौन-सा कल्याण होगा , विचारणीय है ।[1] परन्तु उपन्यासकार का उद्देश्य सच्चे और वास्तविक पात्रों का चित्रण है । उपन्यासकार हमें वह देता है जो हम हैं, वह नहीं देता जो हमें होना चाहिए । और प्रस्तुत उपन्यास से हमारे समाज की "रेखाएं" इतना तो सीख ही सकती हैं कि भावुकता की रौ में बहकर शरीर-धर्म की उपेक्षा कर बड़ी उम्र की व्यक्ति से विवाह करने का क्या परिणाम होता है । अस्तु "रेखा" पुरानी बोतल में "नयी शराब" है । वस्तुत: वर्माजी में प्रारम्भ से ही दो प्रवृत्तियां मिलती हैं । एक में वे पाप-पुण्य की समस्या को विभिन्न मुद्राओं में रखते हैं जो "चित्रलेखा" से प्रारम्भ हुई है । दूसरी के अनुसार वे राजनीतिक मसलों तथा वादों के आधार पर कथापट को बुनते हैं । इन के इधर के उपन्यासों में "प्रश्न और मरीचिका" तथा "सबहिं नचावत राम गोसाईं" इस दूसरी परम्परा में आते हैं । प्रथम में जहां सन् '४७ से लेकर सन् ६२ तक की राजनीतिक घटनाओं को आधार बनाया गया है, वहां दूसरी में राजनीतिक तथा सामाजिक भ्रष्टाचार के रूप को स्पष्ट करने का प्रयास रहा है ।

---

१. हिन्दी उपन्यास : शिल्प और प्रयोग" : डा० त्रिभुवनसिंह : पृ० ३७२ ।

अमृत और विष (१९६६)

बालकवि वैरागी की एक काव्य-पंक्ति है -- ' कोई इन अंगारों से प्यार तो करे । ' नागरजी के इस उपन्यास में इन युवा-अंगारों के हृदय में अवस्थित आग को समझने-समझाने का प्रयास किया गया है । उपन्यास का नामकरण हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पन्त के ने किया था ।[1] अपने कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि दृष्टि से नागरजी का यह उपन्यास बहुचर्चित रहा है और उसके सम्बन्ध में परस्पर विरोधी मत भी उपलब्ध हुए हैं । एक ओर जहां डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय तथा डा० कुंवरपालसिंह प्रभृति विद्वानों ने उसके कथ्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है,[2] वहां डा० कुसुम वार्ष्णेय को उसका वस्तु कमजोर प्रतीत हुआ है ।[3]

वस्तुत: इस उपन्यास में नागरजी ने कदाचित प्रथम बार युवा-पीढ़ी के संघर्ष को उसकी विद्रोहात्मक मुद्रा के मूल कारण को, तटस्थता के साथ रेखांकित इसका चित्रण जहां एक बृहद सामाजिक फलक पर तत्कालीन समाज की अन्य समस्याओं को समेटते हुए किया गया है, वहां काशीनाथसिंह के ' अपना मोर्चा ' (१९७३) में युवा-समस्या के सन्दर्भ में छात्र-आन्दोलन को ही परिवेश बनाया गया है । इस सन्दर्भ में डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का यह मत उल्लेखनीय है :

' वास्तव में अमृत और विष ' की कथा सामयिक भारत के तरुण वर्ग के बाह्य और आन्तरिक संघर्ष की कथा है ।..... यह पहला उपन्यास है जिसने तरुणों की शक्ति को साहित्यिक स्तर पर स्वीकार किया है । काजर की कोठरी में रहते हुए भी नयी पीढ़ी कालिमा को मिटा डालने के लिए कटिबद्ध है । इस कालिमा का वे अपने मन की ज्योति और बाह्य संघर्ष से मिटा डालेंगे ।[4] '

नागरजी का यह उपन्यास एक और दृष्टिकोण से भी अपना वैशिष्ट्य रखता है । इसमें उपन्यास के भीतर उपन्यास की टेक्नीक को अंगीकृत किया गया है । हिन्दी के औपन्यासिक शिल्प में यह एक असामान्य प्रयोग है । इसमें दो कथाएं समान्त

---

१. और ४. ' हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ ' : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : पृ० क्रमश: ९० और १०६ । २. देखिए : (अ) उपरिवत् : पृ० ९०-१०८ । (ब) ' हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना ' : डॉ० कुंवरपालसिंह : पृ० २०३-२०४। ३. ' सम्मेलन पत्रिका : साहित्य-संस्कृति भाषा विशेषांक ' : पृ० ११७ ।

समानान्तर चलती हैं -- उपन्यासकार अरविन्दशंकर की आत्मकथात्मक कथा और साथ ही साथ उनके साम्प्रतिक उपन्यास की कथा जिसके लिए उन्होंने पद्मनाभ नामक प्रकाशक से पहले से ही दो हजार रूपये ले लिये हैं।

उपन्यासका प्रारम्भ अरविन्दशंकर के षष्ठिपूर्ति समारोह से होता है जिसमें वे बराबर भयाक्रान्त थे कि कहीं पद्मनाभ उनका भण्डाफोड़ न कर दे कि रूपये लेने के बावजूद उन्होंने अभी उपन्यास देने के अपने वादे को नहीं निभाया है। अरविन्दशंकर के रूप में यहां लेखक ने मध्यवर्गीय भारतीय लेखक की विपन्नावस्था को ही चित्रित किया है। स्मृतियों के सहारे इसमें अरविन्दशंकर के परिवार की रानी वि विक्टोरिया के युग से लेकर १९६५ तक की कहानी दी गई है। अरविन्दशंकर एक सम समय के स्वतन्त्रता-संग्राम सेनानी तथा लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं। आर्थिक विपन्नता एवं प पारिवारिक समस्याएं उनके साहस एवं धैर्य की कमर को तोड़ देती है। बड़े लड़के का नौकरी पा जाने के बाद माता-पिता से अलग हो जाना, दूसरे लड़के का प्रेम-विवाह करके शिश्नजीवी हो जाना, तीसरे का आई० ए० एस० होकर आत्महत्या कर लेना, लड़की नन्हीं का एक मुसलमान के झूठे प्रेमपाश में फंसना तथा उसके पेट में अपने प्रेम की यादगार को छोड़कर उसका पाकिस्तान भाग जाना आदि घटनाएं अरविन्दशंकर को तो बुरी तरह से तोड़ ही डालती हैं, पाठक के मनो-मस्तिष्क को भी झकझोरती है।

दूसरे कथा-खण्ड में युवा-वर्ग के संघर्षमय वातावरण का चित्रण है जिसमें वह रूढ़ियों और परम्पराओं को तोड़ता हुआ उस ध्वस्त भूमि पर सहयोग व संवेदना की दीवार खड़ी करने का प्रयास करता है। डा० कुंवरपालसिंह के शब्दों में, "पैसे के बल पर खरीदी हुई पक्षधरता के साथ पूंजीपति वर्ग से टकराता हुआ अल्हड़, अकेला, आवेशपूरित और सत्याकांक्षी नौजवान वर्ग इस दूसरी कथावस्तु का जीवन प्राण है, जिसने उपन्यास को सार्थकता प्रदान की है। इस संघर्ष के बहादुर लड़ाकू हैं रमेश, लच्छू, हरि, दैलू, जयकिशोर, और शामराव गोड़बोले।"[१]

ऐसा प्रतीत होता है कि 'अमृत और विष' में निरूपित अरविन्द-शंकर के रूप में स्वयं नागरजी की संवेदना व सहानुभूति यहां युवा-वर्ग से जुड़ गयी है। उन्होंने युवा वर्ग की न केवल विध्वंसात्मक, अपितु रचनात्मक शक्ति को पहचाना है। गोमती में बाढ़ आने पर रमेश अपने साथियों के साथ बाढ़पीड़ितों रक्षा एवं सहायता

---

१. 'हिन्दी उपन्यास : सामाजिक चेतना' : पृ० २०३।

के लिए जी-जान से जुट जाता है। एक ओर वह भांची पिता के तथा आर्थिक विपन्नता से जूझता हुआ ट्यूशन करके पढ़ता है तथा दूसरी ओर युवा-वर्ग को संगठित करके पूंजीवादी राजनीति के गुर्गों से टक्कर लेता है। उसका यह संघर्ष वैयक्तिक एवं सांगठनिक दोनों प्रकार का है। विधवा रानो के साथ का परिणय वैयक्तिक स्तर पर का विद्रोह है तो बारादरी पर संगठित होकर आन्दोलन चलाना सांगठनिक संघर्ष है।[1] युवा-प्रवृत्तियों के केन्द्र समान बारादरी को मन्दिर और धर्मशाला बनवाने के नाम पर हड़पकर रूपचन्द, जो भ्रष्टाचारी एवं चोरबाजारी के प्रतीक रूप हैं, एक तीर से दोहरा शिकार करना चाहते थे।

इसमें लेखक ने जहां एक ओर युवा-वर्ग के गूंगे आक्रोश को वाणी प्रदान प्रदान की है, वहां दूसरी ओर उस दिशाहारा वर्ग की यन्त्रणा और कुण्ठाओं को भी संवेद्य रूप में प्रस्तुत किया है। लच्छू की कुण्ठाएं लच्छू की ही नहीं, सम्पूर्ण भारत की है। उसे देखकर आत्माराम कहते हैं: "उनके सामने कुण्ठित नौजवान भारत बैठा था, जो बेकार है, दरिद्रता से नफरत करता है, उन्नतिशील जीवन चाहता है और न मिलने पर, दुत्कारे जाने पर अपने कुण्ठित आत्म-सम्मान के लिए -- लुद्र और स्वार्थी हो जाता है। वे अभी अपराधी नहीं, विकृत विद्रोही भर हैं।"[2]

अन्तमें इस उपन्यास के सन्दर्भ में नागरजी के ही एक सारगर्भित वक्तव्य को उद्धृत करने का मोह संवरण नहीं किया जा सकता: "पण्डित तर्क की सीढ़ियों पर चढ़कर मोक्ष पा जाता है पर कलाकार की स्थिति तो सदा उस पृथ्वी के समान रहती है जो सूर्य-पिण्ड से कटकर सैकड़ों बरस जलती रही, तरह-तरह की गैसों से भरती रही, फिर पानी-बरसात में डूबी रही और फिर धीरे-धीरे बहुत सटकर ऊपरी परतें ठण्डी पड़ जाने पर ही वह अपने ऊपर सृष्टि रचने की क्षमता पा सकी। भावनाओं के उतार-चढ़ाव में आग-पानी और आंधियों के कठिन भ,कोले सहकर ही वह अपनी कला-सृष्टि रच पाता है।"[3] प्रस्तुत उपन्यास में भी

---

१. देखिए: "हिन्दी उपन्यास: सामाजिक चेतना": पृ० २०४।

२. "अमृत और विष": पृ० ६८६। ३. प्रेमचन्द -दिवस के सिलसिले में महारानी लक्ष्मीबाई कालेज ग्वालियर में अमृतलाल नागर द्वारा दिये गये भाषण का अंश। उद्धृतकर्ता: डॉ० रामविलास शर्मा: "आस्था और सौन्दर्य": पृ० १०४।

लेखक ने संवेदना की आग में तपकर, सृष्टा की पीड़ा को भोगते-फलते हुए युवा-वर्ग के आक्रोश को, विद्रोह व यन्त्रणा को आत्मसात करते हुए अंकित किया है और यह अंकन इतना सशक्त और समीचीन है कि उसके साथ उपरिनिर्दिष्ट अन्य विशेषताओं के प्रकाश में डा० कुसुम वार्ष्णेय का प्रस्तुत उपन्यास के सम्बन्ध में निरूपित मत उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

शहर में घूमता आईना (१९६३)

प्रस्तुत उपन्यास में उपन्यास के नायक चेतन के जालन्धर शहर की सड़कों, गलियों, मुहल्लों में बिताए गए बारह घण्टों के दैनन्दिन जीवन में 'गिरती दीवारें' के चेतन को स्मृति रूपमें पकड़ने का प्रयास अश्कजी ने किया है। चेतन ही वह आईना है जिसके द्वारा हमें जालन्धर का प्रतिबिम्ब दिखाया गया है। आईना यदि साफ हो तो प्रतिबिम्ब स्पष्ट उभरता है, परन्तु यहां चेतन रूपी आइना स्वयं अर्थ एवं यौन की कुण्ठाओं से ग्रस्त है, अतः प्रतिबिम्ब भी तदनुरूप उभर सका है जो मध्यवर्गीय जीवन को समग्रता में प्रस्तुत न करे उसके आंशिक रूप को -- विकृत एवं घिनौने रूप को -- ही प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार 'राग दरबारी' में लेखक की दृष्टि केवल व्यंग्यात्मक दृश्यों की ओर ही गयी है, उसी प्रकार यहां लेखक मध्यवर्गीय जीवन के घिनौने रूप को ही देख पाया है। डा० मक्खनलाल शर्मा के शब्दों में, 'जिस समाज का यहां चित्र दिया है, वह यौन भुक्खड़ों, दम्भियों, बौनों, कायरों, मिथ्याभिमानियों, पलायनवादियों, शोषकों, अनुत्तरदायियों, जनखों, पागलों, दिमागी ऐयाशों, धोखेबाजों, जादूगरों तथा अवसरवादियों आदि का है। उनमें कोई भी तो ऐसा नहीं है जो परिस्थिति को उसकी यथार्थ स्थिति में स्वीकार करके आगे बढ़े और संघर्ष का जोखिम उठाए। यदि इसे समाज का एकांगी चित्र कहें तो आशा है, अनुचित न होगा।'[१]

उपन्यास के समर्पण में लेखक ने स्वीकारोक्ति के रूप में लिखा है : 'जो लोग सबकुछ लेकर पैदा हुए हैं, अथवा कुछ भी नहीं ले सकते, उनके लिए इस

---

१. आलोचना-क्रमांक-३५ : जनवरी, १९६६ : पृ० १९२।

उपन्यास में बहुत-कुछ नहीं है । यह केवल बीच के लोगों के लिए है ।"[१] अत: यह स्पष्ट है कि उपन्यास मध्यवर्ग, विशेषत: निम्न मध्यवर्ग, को लेकर चलता है । चेतन इस निम्न मध्यवर्गीय समाज की मानसिकता को अग्रसर करता हुआ दिखता है । उसका व्यक्तित्व 'मध्यवर्गीय शुतुरमुर्ग' का है । अर्थ और यौन की कुण्ठाओं से यह ग्रसित है । साली नीला को वह चाहकर भी पा नहीं सकता, क्योंकि पत्नी के प्रति वफादारी के नाटक को झुठलाना उसके मध्यवर्गीय संस्कारों के विरुद्ध है । आदर्शवादिता एवं ईमानदारी की इस झाँक में वह सुन्दरी नीला का विवाह एक अधेड़, भद्दे एवं भद्दी आकृति के एकाउन्टेण्ट से करवा देता है ।[२] परन्तु अवचेतन में बैठी नीला से वह कभी मुक्त नहीं हो सकता । फलत: उसकी कुण्ठित मानसिकता केवल उन्हीं प्रतिबिम्बों को खींच पायी है जो यौन-क्षुधा से पीड़ित, अस्वस्थ, पागल या नीम पागल हैं । बदश, रामदित्ते, चूनी, फत्तूराम, जगतू आदि ऐसे ही पात्र हैं जो दमित काम-वासना के ~~फल~~ फलस्वरूप पागल हुए हैं । उपन्यास में समलैंगिक आकर्षण (Home-sexuality) के भी कतिपय उदाहरण मिल जाते हैं । बिल्ला, जगना, देबू, प्यारू जैसे जालन्धर के मशहूर गुण्डे, जो अखाड़े के पहलवान भी हैं, लड़कियों की अपेक्षा सुन्दर नमकीन लड़कों पर अधिक आकर्षित होते हैं ।[३] चेतन के पिता शादीराम भी कृष्ण और राधा का नृत्य करने वाले लड़कों के प्रति आकृष्ट होते थे ।[४] स्वयं चेतन में भी यह वृत्ति है, परन्तु संस्कारों के सेन्सर ने उसे दबा रखा है ।[५] अमीचन्द के मामा सोहनलाल को बुढ़ापे में भी सुन्दर लड़के की आवश्यकता रहती थी जो उनके बिस्तर को गरम करे ।[६]

चेतन की दूसरी कुण्ठा आर्थिक अभावों को लेकर है । डा० धनराज मानधाने मतानुसार चेतन 'हीनता-ग्रन्थि' का शिकार है ।[७] यह ठीक भी है, क्योंकि अभावों में पीड़ित एवं पिछड़ा हुआ व्यक्ति 'हीनता-ग्रन्थि' का शिकार अवश्यमेव

---

१. 'शहर में घूमता आईना' : समर्पण । २. 'गुनाहों के देवता' चन्दर का चरित्र यहाँ तुलनीय है, देखिए अध्याय-४, पृ०   । ३. 'शहर में घूमता आईना' पृ० ७२ । डॉ० राही मासूम रज़ा के उपन्यासों में भी ऐसे लौंडेबाज चरित्रों की भरमार मिलती है । ४. 'शहर में घूमता आईना' : पृ० १६६ । ५. वही : पृ० १५०२, १५२, १५३, १५५ । ६. वही : पृ० ४५०-४५१ । ७. 'हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास' : पृ० २०० ।

होता है। एक समय का मेधावी एवं प्रतिभाशाली चेतन जब देखता है कि पढ़ने में बुद्धि में कम तेज ऐसे हम्मीद, अमीरचन्द, लालू बनिया, अमरनाथ आदि क्रमश: रेडियो-स्टेशन पर प्रोग्राम एसिस्टेण्ट, डिप्टी कलक्टर, सिगरेटों के सबसे बड़े एजन्ट तथा लेखक हो जाते हैं तब उसके हृदय की तिक्तता एवं कटुता अत्यधिक बढ़ जाती है। एक स्थान पर वह सोचता ह भी है : " अमरनाथ जिसे स्कूल में लेखक के नाते कोई जानता ही न था, साहिबे किताब हो गया, और वह जो अपने आप को कवि, कहानी-लेखक, उपन्यासकार और न जाने क्या-क्या समझता था, यों ही लण्डूरा घूमता है।"[1]

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में हम देख सकते हैं कि इस उपन्यास में चेतन के माध्यम से ए लेखक ने एक बौने, अपाहिज, कुण्ठित समाज को चित्रित किया है जो निश्चय ही यथार्थ के समग्र रूप को प्रस्तुत नहीं कर सका है। इस पर व्यंग्य करते हुए डा० त्रिभुवनसिंह ने ठीक ही कहा है : " 'आईने' की अपनी सीमा होती है, वह उतना ही ग्रहण कर सकता है, जितना देख पाता है।, उसी प्रकार लेखक की भी अपनी सीमा है, वह उतना ही कह पाया है जितना कि उसने अपनी एक विशेष मन:स्थिति में देखा है।"[2]

डॉ० नेमिचन्द्र जैन के अनुसार " सर्जनात्मक दृष्टि, प्रक्रिया, संयोजन तथा अन्विति के अभाव में वह प्रतिबिम्ब (आईना) में निरूपित) कलात्मक नहीं बन पाता।..... जानबूझकर बहुत से रेखाचित्रनुमा ' नोट्स' को उपन्यास कहकर प्रकाशित करने की चतुराई मात्र है।"[3]

वस्तु एवं चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से जहां प्रस्तुत उपन्यास अपने चरित-नायक चेतन की भांति कुछ नहीं दे पाता, वहां उसकी तीखी व्यंग्यात्मक एवं प्रभावशाली भाषाशैली तथा नवीन शिल्प श्लाघनीय है। डॉ० मक्खनलाल शर्मा के शब्दों में " अनेक पात्र, अनेक स्थितियां, अनेक घटनाएं, अनेक मार्ग गलियां तथा मुहल्ले, अतीत और वर्तमान इसी शिल्प से जुड़ सकते थे और जुड़े हुए हैं। उपन्यास

---

१. ' शहर में घूमता आईना' : पृ० ४०८। २. ' हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' : पृ० ५२३। ३. अधूरे साक्षात्कार' : डॉ० नेमिचन्द्र जैन : पृ० १२६।

के क्षेत्र में इसे एक नवीन प्रयोग-सफल प्रयोग कहा जाना चाहिए। ..... इतने अल्प काल में इतना देखना और दिखाना इस `आइने` की सफलता है। इसमें ऐतिहासिक, आत्मकथात्मक, विवरणात्मक आदि परम्पराप्राप्त पद्धतियों का ही नहीं, वरन् रिपोर्ताज, संस्मरण, रेखाचित्र, डाक्यूमेण्टरी, दीवास्वप्न, पूर्व स्मृति, फ्लैश बैक, प्रतीकात्मक अनेक नव्यतम शैलियों का भी आवश्यकतानुसार प्रयोग है। इस में उपन्यास का क्षितिज तो विकसित हुआ है और संभावनाएं बढ़ी हैं, किन्तु पाठक को सत्य शोधन की दिशा में अधिक परण-- नहीं मिलती।"[१]

नदी फिर बह चली (१९६१)

प्रेमचन्द की परम्परा को विकसित एवं संवर्द्धित करने वाले कथाकारों में हिमांशु श्रीवास्तव का स्थान अग्रिम पंक्ति में आता है। पूर्व-चर्चित `लोहे के पंखे` (१९५८) के बाद इस द्वितीय कृति में लेखक का प्रगतिवादी दृष्टिकोण और भी उभर कर आया है। जहां `लोहे के पंख` का मंगरुआ कर्धसंघर्ष से उबकर-थककर रिक्शा चलाकर पेट पालने के अतिरिक्त दूसरा निरापद रास्ता नहीं देख पाता, वहां प्रस्तुत उपन्यास की नायिका परबतिया" अन्तिम सांसों तक परिस्थितियों से संघ संघर्ष ही नहीं करती वरन् एक नयी चेतना का, नव जागरण का शंख फूंक देती है।

उपन्यास का परिवेश विस्तृत स्थान एवं काल के फलक को समेटता है। वह बिहार के सारन जिले के हराजी, फेरुसा, चुरामनपुर आदि गांवों के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के नाना आयामों को कुशलता पूर्वक उकेरता हुआ पटना के निम्न मध्य वर्ग के विष का आकण्ठ पान कराता है। दूसरी ओर उपन्यास परबतिया के सम्पूर्ण जीवन काल को घेरता है, अत: उसमें स्वतन्त्रता-पूर्व एवं स्वातन्त्र्योत्तर सामाजिक-राजनीतिक चेतना तथा बदलते हुए जीवन-मूल्यों का दिग्दर्शन भलिभांति कराया गया है। पिछले कुछ वर्षों में ग्रामीण जीवन में जो बदलाव आया है, उस पर शहरी जीवन-मूल्यों का जो दबाव बढ़ रहा है, उसका चित्रण लेखक ने परबतिया के निरीक्षण द्वारा करवाया है। कुछ वर्षों बाद जब वह पटना से पुन: गांव में आती है तब गांवों की एक बदली हुई तस्वीर उसके जाती है। `लौंडे के नाच`[२] (सारन जिले का एक प्रसिद्ध नाच) के स्थान पर

---

१. आलोचना क्रमांक-३५ : जनवरी, `६६ : पृ० १६३। २. `नदी फिर बह चली` पृ० २८८

अब फिल्मों की चर्चा बढ़ गई है। ननदी-भउजइया, आल्हा-उदल, लोरिक-संवरू का गीत, मेला घुमनी[1] जैसे लोकगीतों का स्थान अब 'आग लगी तन-मन में, दिल को पड़ा थामना, राम जाने कब होगा सइयांजी का सामना।' जैसे फिल्मी गीतों ने ले लिया है।[2]

'लोहे के पंख' का नायक मंगरूआ चमार था, तो इस उपन्यास की नायिका परबतिया कहारिन है। उपन्यास का प्रारम्भ ही परबतिया की डोली के उठने के साथ होता है। परबतिया के शैशवकाल से लेकर उसके विवाह तक की घटना-ओं को स्मृति रूप में पूर्वदीप्ति (Flash-back) की शैली में उद्घाटित किया है। ठीक यही वह बिन्दु है जहां से उपन्यास में नगरीय परिवेश (पटना) का प्रारम्भ होता है। उपन्यास के अन्त तक आते-आते परबतिया पुन: गांवों में लौट आती है, क्योंकि उसका पति जगलाल अपने एक साथी के खून के अपराध में जेल चला जाता है। यहां से गांवों की दलगत-जातिगत राजनीति, जनार्दनराय जैसे स्वार्थपटू नेताओं की शोषण लीला, नन्हे तथा मंगललाल जैसे नवयुवक समाजवादी नेताओं द्वारा सर्वहारा वर्ग को संगठित कर उसमें विद्रोह और क्रान्ति की चेतना जगाना, अकाल के कारण तगावी न चुका पाने वालों पर जनार्दनराय जैसे नेताओं की प्रेरणा से सरकार का अमानुषी व्यवहार, इसके विरोध में नवयुवक दल का पटना विधान सभा के सामने धरना तथा जुलूस का कार्यक्रम, पुलिस द्वारा अश्रुगैस व लाठी का प्रयोग, उसमें परबतिया के मस्तिष्क का फूटना, जगलाल का परबतिया को खोजते हुए आना और अन्तत: परबतिया की इहलीला की समाप्ति जैसी घटनाओं का सिलसिला प्रारम्भ होता है। इस प्रकार उपन्यास का प्रारम्भ परबतिया की डोली के उठने से हुआ था और उसका अन्त उसकी जीवन रूपी डोली के उठने से होता है। "पवित्रतम संस्कार-सागर में, जीवन के घात-प्रतिघात से गुजरती हुई उस गांव की गोरी ने अपनी इहलीला समाप्त की और उस समाज में, जिसकी चरित्र और वर्ग-एकता की धारा सूख गयी थी, शुचिता और शक्ति की नदी फिर से बहा दी।[3]

---

१. 'नदी फिर बह चली' : पृ० १७६। २. वही : पृ० ३४४। ३. वही : पृ० ४१०।

परबतिया का सम्पूर्ण जीवन दारुण संघर्ष की एक अविरत यात्रा है। छः वर्ष की अवस्था में मां की मृत्यु से आगत अनाथावस्था। पहले मामी और बाद में सौतेली मां (उसकी सगी मौसी) सुगिया के लात-घूंसे खाकर उसका बचपन असमय ही गम्भीरता एवं समझदारी के दामन को थाम लेता है। बाप साघू महतो बेचारा खून के आंसू पीकर रह जाता है। किसी प्रकार मरती-खपती वह जवान होती है। जगलाल जो पटना में ट्रक-ड्राईवर का काम करता है, उससे विवाह होता है। खराब सोहबत में पड़कर जगलाल सारी कमाई शराब-कबाब व जुआर में उड़ा देता है। परबतिया उसे राह पर लाने के बहोतेरे प्रयास करती है, पर सफल नहीं ह होती। ट्रक के क्लीनर नत्थू के साथ वह सस्ती वेश्याओं की कोठरियों में भी जाता है। इन वेश्याओं के परिवेश, खान-पान, रहन-सहन, बोल-चाल आदि सभी का बड़ा सटीक व यथार्थ चित्रण लेखक ने किया है। इस चित्रण में डा० त्रिभुवन सिंह के शब्दों में 'दोस्तोएवस्की की औपन्यासिक कृतियों का रसास्वादन'[१] हाने लगता है। पटना में जिन स्त्रियों के बीच परबतिया रहती है --जनकिया की मां, चमेलवा आदि -- वे बड़ी चालू औरतें हैं। यहां शहर के निम्न मध्य वर्गीय लोगों के जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार का, उनके नैतिक अधःपतन का बड़ा ही स्पष्ट चित्र लेखक ने अंकित किया है।

परबतिया दो बच्चों की मां बन जाती है। जगलाल राह पर आने की अपेक्षा और भी बिगड़ता जाता है और एक दिन वेश्या की कोठरी के आगे शराब के नशे में धुत अपने साथी के पेट में छूरा भोंक देता है। उसे जेल हो जाती है। परबतिया पहले अपने मैके हराजी जाती है। उसके पिता साघू महतो की मृत्यु हो गई है। सौतेली मां सुगिया उसे अपने पास नहीं रखती। दर-दर की ठोकरें खाती आखिर चुरामनपुर अपने ससुराल में लोगों का चौका-बरतन कर बच्चों को पालती है। गांव की स्कूल के लिए अपने पति के हिस्से की थोड़ी-बहुत जमीन को भी दे देती है क्योंकि उसे कहा गया था कि स्कूल के आगे 'कलुआ के बाप' (जगलाल) का नाम लगाया जायगा। नव युवक दल के लिए वह म 'मंगटीका' भी दे देती है। युवक दल के नेता नन्हे के मना करने पर वह कहती है कि 'कलुआ के बापू के नाम पर

---

१. 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद' : पृ० ५६४।

मैं मन में नेतुर पलती हूँ, केश और मांग में नहीं।[1]

इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास वस्तु, चरित्र एवं परिवेश तीनों दृष्टियों से यथार्थ की सृष्टि करता है। गांव के जीवन का इतना सफल व सटीक चित्रांकन अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलता है।[2] उपन्यास के अन्त में लेखक ने वर्ग-संघर्ष की भूमिका को तैयार किया है, परन्तु यह सब उपन्यास में निरूपित घटनाओं के घात-प्रतिघात से अपने-आप उभरकर आता है, अतः आरोपित नहीं लगता। उपन्यास के इस यथार्थ-रूपायन की यशपालजी ने भी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[3]

यह पथ बन्धु था (१९६२)

मूलतः प्रयोगवादी कवि ऐसे श्री नरेश मेहता की औपन्यासिक कृति 'यह पथ बन्धु था' उनके ही अन्य दो उपन्यासों 'डूबते मस्तूल' (१९५४) और 'दो एकान्त' (१९५५) से एक भिन्न छोर पर पड़ती है। जहां उक्त दोनों उपन्यासों में सीमित मनोवैज्ञानिक परिवेश को आधार बनाया गया है, वहां 'यह पथ बन्धु था' का स्थानगत एवं कालगत सामाजिक-राजनीतिक परिवेश अपेक्षाकृत कुछ विस्तार लिए हुए है जो नरेश मेहता के कृतित्व में नये मोड़ का अहसास दिलाता है। 'यह कृति मोटे तौर तौर पर कहें तो, छायावाद-काल के राजनीतिक-सामाजिक परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति-मन का आकलन करती है।'[४]

इसकी आलोचना करते हुए डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने एक स्थान प पर लिखा है: 'आज के जीवन में जो गहरा अन्तर्द्वन्द्व है, हर क्षण पर नई विसंगतियां हैं या संकुलता है, उसका कोई आभास इस उपन्यास में नहीं प्राप्त होता।'[5] परन्तु के यहां यह बात स्मरणीय रहे कि प्रस्तुत उपन्यास में नरेश मेहता ने नितान्त आज के व्यक्ति को न लेकर निकट अतीत के सामाजिक-राजनीतिक सन्दर्भों को लिया है जिसमें

---

१. 'नदी फिर बह चली' : पृ० ३९९। २. तुलनीय : 'भारतीय किसान और मजदूर जीवन का जैसा सफल और विश्वसनीय चित्रण हिमांशु श्रीवास्तव अपने उपन्यासों में करते हैं : वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता।' : जैनेन्द्र : उपन्यास के फ्लैप से। ३. उपरिवत्। ४. डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय : आलोचना-जनवरी, १९६६ : पृ० १७०। ५. 'हिन्दी उपन्यास: उपलब्धियाँ' : पृ० १३५।

विसंगतियां एवं व्यक्तिगत ग्रन्थियां अपेक्षाकृत कम थीं । दूसरे प्रस्तुत उपन्यास में लेखक का प्रयास श्रीधर जैसे एक साधारण, अत्यन्त स्थिर, महत्वाकांक्षाहीन, आधुनिक स्पर्द्धा-भाव से दूर, जीवन के कुछ मूल्यों के प्रति आस्थावान व प्रामाणिक पात्र द्वारा जीवन के विरोधी आयामों को उद्घाटित करने का रहा है जो निस्संदेह ही उपन्यास को आधुनिक भावबोध से संपृक्त कर देता है । ऐसी स्थिति में इसे छायावाद के व्यक्ति-मन का आकलन मात्र नहीं कहा जा सकता । इसमें लेखक ने आधुनिक जीवन का यह सत्य सामने रखा है कि अपनी वैयक्तिक सीमाओं में एक छोटी-सी भी प्रामाणिकता का निर्वाह कर पाना कितना दुष्कर होता जा रहा है । डा० नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में, "अपने प्रति सच्चा और सहज होना जीवन-संघर्ष के लिए अपर्याप्त ही नहीं, बल्कि एक प्रकार की अयोग्यता है । जीने के लिए, किसी प्रकार की सफलता, उपलब्धि या परिपूर्णता के लिए आत्मविज्ञापन और आत्मप्रक्षेपण का असीम सामर्थ्य चाहिए । हल्के से हल्के और छोटे से छोटे स्तर पर भी किन्हीं मूल्यों के प्रति सजग और संवेदनशील होकर सुखी हो सकना प्रायः असम्भव है ।"[१]

श्रीधर के जीवन की असफलता और सरस्वती के जीवन की दुखदायक त्रासदी का यही तो कारण है कि वह परिस्थितियों के साथ समझौता नहीं कर सका । श्रीधर उज्जैन के निकटवर्ती कस्बे का एक साधारण-सा शिक्षक है । वह अपने राज्य के इतिहास पर एक पुस्तक लिखता है । शिक्षा विभाग के अधिकारी उसमें कुछ संशोधन करने के लिए कहते हैं, जिसे श्रीधर की आत्मा स्वीकार नहीं कर सकती । फलतः नौकरी से त्यागपत्र देकर एक रात वह घर से चुपचाप चला जाता है । उसका परिवार अत्यन्त विपन्न अवस्था में है । परिवार में पत्नी, तीन बच्चे, वृद्ध माता-पिता, दो भाई तथा उनकी पत्नियां हैं । यहां से कथा दो भिन्न धरातलों पर चलती है -- एक तो है श्रीधर की यायावरी जिन्दगी, द्वितीय श्रीधर के कीर्तनिया परिवार के विघटन की ट्रैजडी । यह दूसरी कथा ही अधिक लोमहर्षक है ।

घर से भाग जाने के पश्चात् इन्दौर में श्रीधर की भेंट बिशन नामक एक आतंकवादी से होती है । बिशन के द्वारा उसका परिचय मालिनी मालती व रतना से होता है । बिशन-मालती के प्रेम-विवाह के कारण उसे भी बिशन के साथ काशी भाग जाना पड़ता है, जहां वह पहले कांग्रेसी आन्दोलन में भाग लेने के कारण

---

१. 'विवेक के रंग' : सं० डॉ० देवीशंकर अवस्थी : पृ० ३०२ ।

तथा बाद में अपने आतंकवादी सम्पर्कों के कारण तेरह-चौदह वर्ष जेल काटता है। वहां से छूटने पर वह 'शंखनाद' नामक एक साप्ताहिक निकालता है तथा अन्य साहित्यिक-राजनीतिक कार्यों में प्रवृत्त होने की चेष्टा करता है परन्तु अपने व्यक्तित्व की अव्यवहारिकता, निष्क्रियता, राजनीतिक-साहित्यिक जीवन में व्याप्त दाँव-पेंच दलबन्दी तथा तीव्र महत्त्वाकांक्षा एवं आन्तरिक प्रेरणा के अभाव में वह न कुछ कर पाता है, न कुछ बन पाता है। अन्ततोगत्वा पचीस वर्ष बाद असफल, पराजित व टूटा हुआ वह अपने घर लौट आता है।

इस बीच उसके माता-पिता मर चुके थे। दोनों भाई मकान का बंटवारा करके अलग हो चुके थे। पत्नी सरस्वती इन सब के बीच पिसती-टूटती हुई यक्ष्मा की अन्तिम अवस्था में है। दोनों पुत्रियों का विवाह हो चुका था जिनमें से एक श्वसुर पक्ष के अत्याचार से पंगु एवं परित्यक्त होकर मां के साथ रहती है। श्रीधर के घर पहुंचने के बाद सरस्वती की मृत्यु भी हो जाती है और पंगु पुत्री अपने नाना के घर चली जाती है। श्रीधर पुन: अकेला, निस्सहाय, 'पथ बन्धु-सा --राही-सा हो जाता है। उसकी नियति कोई घर, कोई बसेरा नहीं: एक अन्तहीन निरुद्देश्य भटकाव मात्र है। उसके जीवन की इस ट्रैजेडी का प्रारम्भ एक राज्य का इतिहास लिखने से हुआ था, अब वह मानवता का इतिहास लिखने का संकल्प करता है। इस प्रकार स्थितियां पूर्णतया अस्तित्ववादी दर्शन के अनुरूप थीं परन्तु उसकी परिणति लेखक ने भारतीय परम्परा के अनुसार की है। ऐसी ही स्थितियों में जहां 'अजनबी' का म्यौर साल मुकदमे में अपना बचाव नहीं करता तथा 'द सैटिंग सन' का नाओजी आत्महत्या की भाषा में विचार करता है, वहां श्रीधर की आस्था अभी निराकार-निराधार होने पर भी खण्डित नहीं हुई।[1] लेखक की इस परिणति से जहाँ डॉ० मालवीय कुछ असंतुष्ट हैं, वहां डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय इससे पूर्णतया सहमत ही नहीं, प्रत्युत प्रसन्न भी हैं।[2]

श्रीधर एक अत्यन्त स्थिर व कुछ हद तक जड एवं निर्मम पात्र है। वह स्वयंचालित नहीं। उसके व्यक्तित्व के कोण हमेशा अन्य पात्रों व परिस्थितियों

---

१. द्रष्टव्य : डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय : आलोचना, जनवरी-१९६६ : पृ० १७६।

२. देखिए : (अ) आलोचना, जनवरी-'६६ : पृ० १७६।

(ब) 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ' : पृ० १३५-१३६।

के घात-प्रतिघात से निर्मित होते रहे। सरस्वती के रूप में हमें उस युग की एक समर्पिता नारी की मुद्रा मिलती है। डा० नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में 'यह पथ बन्धु था' "जितनी श्रीधर की जीवन-गाथा है उतनी ही उसकी पत्नी सरस्वती या सरो की भी। बल्कि कई दृष्टि से सरो की कथा कहीं अधिक एकाग्र,तीखी, मार्मिक और करुणापूर्ण है। सरो श्रीधर की ही भांति निरीह, मूक और सहनशील है, और साथ ही समर्पित तथा शालीन भी। इसी कारण वह परिवार के भीतर रह-कर अकल्पनीय त्रास पाती है, और सीमाहीन अगाध समुद्र की भांति जीवन की तीखी पीड़ा को अपने भीतर समाये रखती है। इस दृष्टि से 'यह पथ बन्धु था' पुराने ढंग के सम्मिलित परिवार के विघटन की भी कथा है, और उसकी चक्की में एक सुकुमार आस्थावान् स्त्री के पिस जाने की कथा भी, जो भारतीय नारी के विडम्बनापूर्ण जीवन के एक समूचे युग को रूपायित करती है।"[2] सरस्वती का यह चरित्रांकन युगीन सन्दर्भों की दृष्टि से समुचित ही कहा जायगा। उसकी तुलना में श्रीधर का चरित्र अत्यन्त पंगु है जो लेखक द्वारा प्रदत्त कलात्मक बैसाखियों के बावजूद हमें आकर्षित नहीं कर सकता।

चरित्र-सृष्टि में लेखक ने सरलीकरण की प्रवृत्ति को ही अंगीकृत किया है। उनके द्वारा चित्रित पात्र या तो बहुत अच्छे हैं या बहुत बुरे, जबकि जीवन को इतनी आसानी से 'सु' और 'कु' के खानों में नहीं विभाजित किया जा सकता। श्रीधर और सरस्वती सहनशील, आस्थावान् व उदार हैं तो श्रीधर के दोनों भाई तथा उनकी पत्नियां अत्यन्त स्वार्थी, क्रूर, दुनियादार, जड़ एवं आदर्शहीन हैं। तथापि स्थितियों एवं पात्रों की प्रस्तुति में कहीं-कहीं विसदृशता (कॉन्ट्रास्ट) का बड़ा ही प्रभावपूर्ण उपयोग हुआ है। बिशन और श्रीधर, रतना और मालिनी, इन्दु और सरो, सरो और सावित्री, कान्ता और गुणवन्ती आदि पात्रों में बड़ी रोचक विरोधागामी प्रवृत्तियां[3] मिलती हैं जो एक-दूसरे को रूपायित करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होती हैं।

उपन्यास को पढ़ते समय स्थान-स्थान पर यह प्रतीत हुए बिना नहीं रहती कि उसके लेखक को बंगला भाषा एवं साहित्य से गहरा लगाव है जो कहीं-

---

१. देखिए : 'यह पथ बन्धु था' : पृ० ५७६। २. 'विवेक के रंग' : पृ० ३०१।
३. वही : पृ० ३०६।

कहीं दोष की सीमाओं को छूता हुआ लगता है। बंगला कथा-साहित्य की शरच्चन्द्रीय भावुकता व 'दीदीवाद' यहां भी मिलता है। श्रीधर और इन्दु तथा बिशन और मालिनी में यह 'दीदीवाद' मिलता है। मालिनी शरच्चन्द्र की ~~स्वलक्ष~~ राजलक्ष्मी की छाया है तो बिशन 'पथेरदावी' के सव्यसाची का स्मरण दिलाता है।[1] मालिनी का उपन्यास की प्रासंगिकता में कोई औचित्य नहीं है। यदि उसे निकाल दें तो भी उपन्यास के कथ्य में कोई बड़ा अन्तर नहीं आता। बिशन की आतंकवादिता भी आरोपित सी लगती है। उपन्यास का अन्त श्रीधर के मानवता के इतिहास लिखने के संकल्प के साथ ही हो जाता तो अधिक कलात्मक होता, उसके विवरण में लेखक ने जो 'वार एण्ड पीस' के भावबोध की जो नकल की है वह कुछ-कुछ आरोपित-सी लगती है[2] और फलत: उसके प्रभाव को कमजोर बना देती है। लेखक को बंगला शब्दों, वाक्यांशों या सम्भवत: बंगाली परिवेश से ही अतिरिक्त मोह है। पर उसके कारण कहीं कहीं भाषा-दोष आ गया है।[3] रेणु में बंगला का प्रयोग जिस सहजता से मिलता है, उसका यहां अभाव है। 'प्रवेशते' (पृ०६०), 'किंशामने लगी' (पृ० १४४), 'प्रवेशा' (पृ०३००) जैसे शब्द-प्रयोग उपन्यास की कलात्मकता पर चोट करते हैं। एकाध स्थान पर देशगत दूषण भी मिलता है, जैसे 'बारों मास गंगा नहाने वाली बुढ़ियाओं का मालवा में वर्णन करना (पृ०६३)।

उक्त कुछ दोष रचना में इसलिए भी खलते हैं कि यह कृति हिन्दी के कतिपय श्रेष्ठ उपन्यासों में स्थान पाने योग्य है। मध्यम या निकृष्ट प्रकार की रचना में दोष इतने नहीं खलते, जितने किसी उत्तम रचना में। भोंडी स्त्री का भोंड़ापन असंगति नहीं, संगति है पर सुन्दरी स्त्री की ~~किंचित~~ का भोंड़ापन आलोचना का विषय हो जाता है। श्रीधर द्वारा साक्षात्कृत जीवन का यह विस्तृत पट लेखक ने लगभग ६०० पृष्ठों में जीवन की अगणित छोटी-छोटी साधारण-सी बातों के तानों-बानों से बुना है। कहीं-कहीं पर लम्बे अन्तराल पाठक की 'कैलिडोस्कोपिक' कल्पना द्वारा भरे जाने के लिए छोड़ दिए गए हैं। शैली की यह सांकेतिकता तथा साधारणता में ही जीवनतम के गहनतम सत्य की अनुभूति उपन्यास की एक उपलब्धि बना सका है।

---

१. देखिए : (१) 'विवेक के रंग' : पृ० ३०४, (२) आलोचना, जनवरी, '६६ : पृ० १७३
२. 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां' पृ० १३४। ३. 'विवेक के रंग' पृ० ३११।

साँप और सीढ़ी (१९७१)

' साँप और सीढ़ी ' शानी का सन् १९६० में पाकेट बुक सीरीज़ में प्रकाशित लघु उपन्यास ' कस्तूरी ' का संवर्द्धित एवं पुन:संस्कारित रूप है।[1] दोनों के अन्त में भी शीर्षक की प्रतीकात्मकता के कारण थोड़ा अन्तर आया है।[2]

'बहुत बड़े फलक पर देश, जाति, धर्म या संस्कृति और छोटे फलक पर किसी भी देशगत समाज या उसके समाजगत व्यक्ति का उदाहरण लेकर इसे समझना एक दिलचस्प अनुभव होता है। पहला काम इतिहासकार का है और दूसरा अनुभव केवल लेखक का।'[3] प्रस्तुत उपन्यास में हमें लेखक की इसी अनुभव-प्रक्रिया से गुजरने की सफल कोशिश का अहसास होता है।

इसे पढ़ते समय बस्तर ज़िले का कस्तूरी गाँव, उसके पेड़-पौधे, फूल-पत्तियाँ तथा मनुष्यों की गन्ध ही नहीं, प्रत्युत लेजा, मारी रोसोना, रावना बेलो, चइतपरब आदि आदिवासी लोकगीतों की गमक भी हमारे मनो-मस्तिष्क में रस-बस जाती है। चेतना की पश्चाद्भूमि में एक मृदंग बजता रहता है और बूंद-बूंद दर्द रिसता रहता है। धान माँ के व्यष्टि-दर्द के साथ लेखक अंचल की समग्र वेदना पाठक में संक्रमित कर सका है। यही लेखक की अन्यतम सफलता है।

---

१. ' जिन्होंने मेरी कस्तूरी पढ़ी है, उनके लिए भी उपन्यास नया है। बाहरी ढाँचे को अगर छोड़ दें तो कथ्य, भाषा, संवेदना लोग, सन्दर्भ और एप्रोच, हर लिहाज़ से- से नया।' : शानी : लेखकीय वक्तव्य-- पूर्वाभाषा ' : साँप और सीढ़ी : पृ०६।

२. द्रष्टव्य : (क) ' टूटी हुई-सी धान माँ वहीं बैठ गयी --' शायद लोग सच ही कहते हैं कि मृग अपनी नाभि में छिपी हुई कस्तूरी को नहीं जानता और उसकी तलाश में आजीवन भटकता रहता है।' शानी : 'कस्तूरी' : अन्तिम पृष्ठ।
(ख) ' धान माँ ने दरवाजा खोला और डरती-डरती भीतर आयी। अंधेरा था। अन्दाज़ से दियासलाई टटोली और काँपते हाथों से एक तीली जलायी -- वहाँ कोई नहीं था। डोली, दयाशंकर, हीरासिंह -- कोई नहीं। पीछे कोलतार की सड़क अनजान बनी दमसाधे पड़ी थी -- डस-चुके साँप की तरह अलसायी हुई और बेहद तृप्त।' : शानी : साँप और सीढ़ी ' ? अन्तिम पृष्ठ।

३. लेखकीय वक्तव्य : साँप और सीढ़ी : पृ०५६।

धान माँ हल्बा जाति की एक आदिवासी बाल-विधवा है। मूल नाम चम्पा था पर धान बेचते-बेचते धानबाई से धान माँ हो गयी। कस्तूरी से कुछ दूरी पर जंगल में उड़ीसा को और जानेवाले नेशनल-हाई-वे पर स्थित उसका चाय का होटल हर तरह के लोगों के आने का स्थान है। उसमें वह अपनी पालित कन्या डोली के साथ रहती है। इधर-उधर से आने वावाले ट्रकों और बसों के ड्राइवर,कण्डक्टर, मास्टर-मास्टरनियाँ, पटवारी तथा अन्य सरकारी मुलाजिम वहाँ आते हैं। कभ--कभी शराब पीने के साथ-साथ समय-असमय वे रुक भी जाते हैं। इन सबके द्वारा उसे शहर के समाचार प्राप्त होते हैं तो दूसरी तरफ वह लाटी चरवाहा के माध्यम से कस्तूरी तथा आसपास के गांवों से जुड़ी रहती है।

जीवन के बसन्त काल में मैजापदर की बाली (मेले) में कस्तूरी के हीरासिंह से वह हार गयीथी। वहाँ के दस्तूर के अनुसार घण्टों होड़ होती है और आखिर जीतनेवाले को हारनेवाले पर पूरा अधिकार होता है, हर तरह का अधिकार। चम्पा हार चुकी है और उसी के पास निढाल तथा श्लथ लेटा हुआ हीरासिंह जीत का गीत गा रहा है:

तमर मुंड बालो करिया कल,
कल तले-तले कलस फल
कैसकाल कल घाटी। [1]

हीरासिंह जाति का पनका था और उसका पैतृक व्यवसाय कपड़ा बुनने का था। जब चम्पा से आँखें लड़ी थीं तब उसका शरीर ही नहीं करघा भी खूब चलता था। बाद में वह चम्पा को कालिकाचरण से उलझा देता है, जो कुछ वर्षों का साथ देकर कहीं चला जाता है। परन्तु हीरासिंह से उसका सम्बन्ध यथावत् ही रहता है। उससे उसे दयाशंकर नामक एक पुत्र भी होता है। दयाशंकर अधिकांशत: कस्तूरी या सोनपुर में ही रहता है। सास के गांव नगरनार में कपड़े वाले सेठ के आ जाने से बुनकरों का व्यवसाय ठप्प हो जाता है और हीरासिंह सलपी-ताड़ी के व्यवसाय में डूब जाता है

---

१. तुम्हारे सिर के ये काले-काले केश जादू करते हैं। इन बालों से निगाह फिसलती है तो तुम्हारे नारियल जैसे उरोज रोक लेते है। उसके बाद केशकाल की घाटियां हैं। : साँप और सीढ़ी : पृ० १६१।

जो अन्तत: उसके स्वास्थ्य एवं जीवन को भी ले डूबता है। दयाशंकर सोनपुर में होटल खोलना चाहता है। इसके लिए वह घान माँ से पाँच हजार रूपये मांगता है। घान मां के पास उतने रूपये नहीं है। अत: माँ से लड़कर वह शहर चला जाता है। डौली भी पास ही दण्डकारण्य योजना में कार्यरत किसी अधिकारी के घर जा बैठती है। हीरासिंह भी उसी समय मर जाता है। चारों तरफ से कटकर घान मां अपनी होटल में नितान्त अकेली रह जाती है।

परन्तु घान मां की यह कथा तो उपन्यास का बाह्य ढांचा मात्र है। उसके द्वारा शानी ने बस्तर जिले के एक सीमावर्ती गांव-- कस्तूरी को उसकी समग्रता में अंकित कर दिया है। "अलग-अलग लोगों के जीवन और अन्तर में उबरकर गांव की सम्पूर्णता को प्रस्तुत करने का एक बहुचर्चित प्रयत्न नोबुल पुरस्कार विजेता 'रोजर मार्टिन डूगार्ड' ने अपने लघु उपन्यास 'पैस्टमैन' में किया था। (राजेन्द्र यादव : ज्ञानोदय, सितम्बर,' ६१, पृ० १०१) पोस्टमैन की तरह घान-मां उस आदिवासी जीवन का केन्द्र है जिसको केन्द्र मानकर लेखक ने दलसाय जैनी, नरेन्द्र वर्मा, 'मिलखान' आदि के माध्यम से आदिवासी जीवन के बदलते मूल्यों, आस्थाओं और प्रतिमानों का चित्रण किया है।"[१] दलसाय, नत्थूलाल, रघुनाथ आदि पात्र गांव की स्थानीय राजनीति को तो जैनी, मानिक मास्टर, नगेनबाबू, कामरेड केदारजी जैसे पात्र देश की दलीय राजनीति तथा उसकी विभिन्न गतिविधियों को उभारते हैं। पादरी पास्टर महोदय ईसाई प्रचार के पहलू को उजागर करते हैं। उनके प्रयत्नों से ही वहां एक अच्छा-खासा ईसाई महोल्ला खड़ा हो गया था तथा फूलमती (जैनी) मनकी (एलजाबेथ) तथा बिलई जैसी आदिवासी युवतियां आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर आराम तथा इज्जत की नौकरियां जुटा सकी थीं। कुम्हारिन फूलोआता से जुड़ा हुआ उसका संत्रस्त इतिहास, उसके टोन्ही होने के बारे में प्रचारित झूठी अफवाह तथा उसकी शंकास्पद मृत्यु : रघुनाथ की अत्यन्त सुन्दर पत्नी समली का पहले दलसाय और बाद में सोनपुर खदानों के अधिकारियों से अवैध सम्बन्ध तथा मृत्यु के रूप में उसकी करुण परिणति के बाद रघुनाथ का पगला जाना आदि उपन्यास की करुण दीपिकाएं हैं।

---

१. 'हिन्दी लघु उपन्यास' : डॉ० घनश्याम मधुप : पृ० १२२।

इस उपन्यास महत्व उसके विशिष्ट सन्दर्भ के कारण भी है। इसमें शानी ने औद्योगिकता की चपेट में आये जन-जीवन और उसके नैतिक-सांस्कृतिक संकट को गहन मानवीय संवेदना के साथ चित्रित किया है। दण्डकारण्य योजना तथा सोनपुर की खदानों ने जहां नयी रोशनी, सुख-सुविधाएं, सिनेमा-होटेल, नये सौन्दर्य प्रसाधन आदि दिये वहां उनके जीवन-मूल्यों को तोड़ा-मरोड़ा भी है। यह औद्योगीकरण जहां मनुष्य को ऊपर चढ़ाने वाली सीढ़ी है वहां वह सांप भी है जिसका ग्रास होकर सामान्य मानव को पतन के गर्त में उतरना पड़ता है। "एक दिन सोनपुर की पहाड़ियों की ओर बड़ा जोर का धमाका हुआ था। शायद कोई चट्टान उड़ायी गयी थी और शायद उसके रेजे और टुकड़े आकाश में काफी दूर तक उछले थे।"[1] इस विस्फोट के साथ ही सोनपुर के अंचल में भी एक खामोश धमाका हुआ। आहिस्ते से एक संक्रमण वहां के जीवन में रेंग आया। दया शंकर, डोली, सनतू सट्टेवाला आदि इसी संक्रमण की उपज है। बाहर के कपड़ों के प्रचलन से पहले करघे बन्द हुए। वे खदानों में गये तो वहां बाहरी मजदूरों के आ जाने से अस्तित्व-रक्षा का संकट पैदा हुआ। उसमें हीरासिंह जैसे कइयों की आहुतियां देनी पड़ी। बाहरी तथा स्थानिक मजदूरों की टकराहट, अधिकारियों के गुर्गों की चांदी, स्त्री-श्रमिकों का नैतिक शोषण, ग्रामीण चेतना के प्राणस्वरूप 'राग' तत्व का शनैः शनैः अदृश्य होना, मस्ती के स्थान पर सुस्ती तथा सट्टाखोरी का बढ़ना, महंगाई के साथ जीवन के उत्साह का बुझना तथा उत्सवों और मेलों का निस्तेज होते जाना आदि इसी संक्रमणशीलता के परिणाम हैं। इस मूल्यसंक्रमण को देखकर प्रेमचन्द के सूरदास' की बात का स्मरण होना सहज है।

अस्तु यह उपन्यास अपने लघु कलेवर में भी एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। घटनाओं का कसाव रोचकता को बढ़ाने वाला है। इसमें लेखक ने स्मृति, पूर्व-स्मृति (Flash-back), शब्दसंस्मृति आदि पद्धतियों का सफल निर्वाह किया है। घटनाओं तथा पात्रों के निर्माण में लेखक ने कलात्मक सतर्कता बरती है।

काला जल (१९७४)

गुलशेर खान शानी का यह उपन्यास रूसी भाषा में भी अनूदित होकर आदृत हो चुका है।[2] कमलेश्वर ने हिन्दी के जिन सात-आठ स्वातन्त्र्योत्तर

---

१. सांप और सीढ़ी : पृ० २४ । २. 'काला जल' : लेखकीय परिचय से ।

उपन्यासों का जिक्र किया है, उनमें एक 'काला जल' भी है।[१] मध्यवर्गीय मुसलमानी परिवेश का वह ठहराव ही 'काला जल' है, जिसकी बिसायंध और सड़ांध से स्वयं लेखक त्रस्त है। इसे हम मध्यवर्गीय मुस्लिम समाज का एक 'प्रामाणिक दस्तावेज'[२] कह सकते हैं, क्योंकि समूचा मध्यवर्गीय मुस्लिम समाज अपनी सारी अच्छाइयाँ-बुराइयाँ, रस्मो-रिवाज, मान्यताओं, गरीबी, विडम्बना, विसंगतियाँ, विद्रूपताओं के साथ यहाँ मूर्तिमन्त हुआ है। इसी एक उपन्यास से हम मुस्लिम समाज को समग्रतया जान सकते हैं। ग्रामीण परिवेश और लोक-जीवन का जितना सूक्ष्म अंकन इधर हिमांशु श्रीवास्तव में मिलता है, उतना ही मुस्लिम समाज का सूक्ष्म आकलन शानी के इस उपन्यास में मिलता है। आधुनिकता के अजस्र प्रवाह से निरन्तर घुलती जाती लोक-संस्कृति व तहजीब से आक्रान्त आगत पीढ़ियाँ जब पीछे मुड़कर इस उपन्यास का परीक्षण करेंगी तो उसे अपनी अतीत की परम्पराओं का समुचित ज्ञान कदाचित् यही कृति दे सकेगी।

तीन सौ सड़सठ पृष्ठीय इस रचना में लेखक ने तीन पीढ़ियों के दर्द को सहेजा-समेटा है। उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में स्मृतियों एवं पूर्वदीप्ति के सहारे चलता है। जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' की भांति यहां भी उपन्यास का नैरेटर 'मैं' (बब्बन) मुख्य पात्र न होकर गौण पात्र है। कथा उसकी अधिक न होकर होकर बी दारोगिन, मिर्जा करामत बेग, रज्जूमियां, सलमा, फूफी, सल्लो आपा, मोहसिन और नायडू की अधिक है। वह तो केवल इन तीन पीढ़ियों के दर्द का संवाहक मात्र है।

समूचा उपन्यास पीछे से आगे की ओर विकसित होता है। पिता की अनुपस्थिति में बब्बन फूफी के यहां शबे बरात की फातिहा पढ़ी जाता है तब एक के बाद एक मृत व्यक्तियों की स्मृतियों में वह खोता जाता है। इस स्मृति-पट को लेखक ने तीन खण्डों में विभाजित किया है -- अल-फातिहा : लौटती हुई लहरें, भटकाव : दिशाएं चूमती स्रोतस्विनी, ठहराव।

---

१. See, 'Seminar on creative writing in Indian Languages (1972)।

२. 'आज का हिन्दी साहित्य : संवेदना और दृष्टि : पृ० १२२।

उपन्यास के प्रारम्भ में मध्यवर्गीय मुस्लिम समाज में आये कुछ बदलाव का संकेत लेखक ने दिया है। जैसे 'आधा गाँव' के अब्बू मियाँ की लड़की सईदा अलीगढ़ पढ़ने जाती है और बाद में नौकरी भी करती है। अब्बू मियाँ शुरू में जरूर झुंझलाते हैं परन्तु जमींदारी के खत्म होते ही वह उनके लिए आशीर्वाद-रूप हो जाती है। 'काला जल' के रसूल मुंशी के यहाँ बड़ी जगमग है। कतार से मोमबत्तियाँ जल रही हैं और नायलौन की फ्रॉक-ओढ़नी में उनकी बच्चियाँ चबूतरे पर धमाचौकड़ी मचा रही हैं क्योंकि उनकी बड़ी लड़की इधर परदा छोड़कर ग्राम-सेविका की नौकरी करने लगी है और अक्सर जीप में इधर-उधर घूमती-फिरती दीखती है।[1] परन्तु ऐसे उदाहरण अपवाद रूप में मिलते हैं। अधिकांशत: तो पुराने मूल्यों और रूढ़ियों का ठहराव ही दृष्टिगोचर होता है।

बब्बन की स्मृतियों का प्रारम्भ मिर्जा करामत बेग से होता है। बरसों पहले कभी मिर्ज़ा बस्तर आये तो पुलिस के दारोगा थे। "रियासत का दौर था और सस्ते का जमाना। चावल रुपये का एक मन, गेहूं डेढ़ मन, और घी दस सेर का मिलता। मुर्गे-बतखों या हलाल जानवरों के लिए पैसे खर्च करने की कभी जरूरत नहीं पड़ती थी।"[2] मिर्ज़ा आये तो फिर इस धरती में रस-बस गये और धरती का मोह इतना बढ़ा कि तबादला होने पर उन्होंने नौकरी छोड़ दी। मिर्ज़ा का प्रात: काल टहलने जाना, हररोज कोई न कोई बहादुराना किस्सा सुनाना, बिट्टी रौताइन से आशनाई होना, और बाद में उसे अपने घरमें बिठा लेना आदि घटनाओं का वर्णन लेखक ने खूब रस ले-लेकर किया है। यही बिट्टी रौताइन बाद में बी दारोगिन के नाम से जानी जाती है। वह खुद होकर बाद में मिर्ज़ा के लिए एक कुलीन मुस्लिम परिवार की कन्या ब्याह लाती है। नयी दुल्हन के खुशगवार कदमों के पड़ते ही बी दारोगिन एक पुत्र को जन्म देती है -- रोशन बेग। मिर्ज़ा की मृत्यु के बाद, चुहल्लम की समाप्ति के पश्चात् नयी दुल्हन तो मैके चली जाती है। बी दारोगिन उसके सारे जेवरात

---

१. 'काला जल' : शानी : पृ० ८८।

२. वही : पृ० २४।

पर अपना कब्जा कर लेती है और कुछ समय के बाद दूर के रिश्ते के देवर रज्जूमियां से फिर निकाह पढ़ लेती है। इस शादी का बड़ा बुरा प्रभाव बालक रोशनबेग पर पड़ता है और उसका व्यक्तित्व सदा सदा के लिए कुण्ठित-सा हो जाता है। वह अधिकांशत: चुप रहता है। इसकी इस गहन चुप्पी को तोड़ने के लिए उसे होस्टेल में भेजा जाता है। यहां पर उसके हस्तमैथुन जैसी आदतों के शिकार होने का बड़ा संकेतात्मक अंकन लेखक ने किया है।[१]

इसी रोशनबेग की शादी फूफी से होती है। रोशनबेग का तेज-तर्रार स्वभाव, फूफी का उनसे ~~अक्सर~~ आतंकित रहना, बी दारोगिन का सख्त सासपना, जुहिरा मामी की चुहलबाजियां और उसमें छिपा दर्द, रज्जूमियां का अपनी ही बहू पर डोरे डालना, जुहिरा द्वारा रशीदा की करुण कहानी का खुलते जाना, सगे चाचा की रशीदा पर कुदृष्टि और परिणामत: एक दिन आत्महत्या, बब्बन का फूफी के परिवार में आना-जाना, दोनों परिवारों की अनबन, बब्बन के पिता की दुश्चरित्रता के काले सायों का समूचे परिवार पर मंडराना, फूफी के की तीन संतानों --- सलमा, मोहसिन और रकिया -- में बब्बन का सलमा-सल्लो आपा से आत्मीयता के तौर पर ~~जुड़ना~~ जुड़ते जाना, सल्लो आपा की वय:सन्धि अवस्था, बब्बन द्वारा पिता के बक्से से चुराकर कोई अश्लील बाजारू किताब देना, सलमा का रहस्यमय व्यक्तित्व, इन स्थितियों में किसी युवक से उसका शारीरिक तौर पर जुड़ना और 'धरती धन न अपना' की ज्ञानो की भांति एक रात शंकास्पद स्थितियों में मृत्यु, मोहसिन की प्रारम्भिक तूफानी वृत्ति, बादमें नायडू के सम्पर्क से स्वाधीनता के आन्दोलन से जुड़ना, स्कूल के यूनियन जैक को सलामी देने से इन्कार करने के अपराध में उसका स्कूल से 'डिबार' होना, इस बात पर सरकारी मुलाजिम रोशनबेग का स्वाभाविक रूप से गरम होना , उसे पढ़ने के लिए बाहर भेज देना, नायडू का पागल हो जाना, रोशनबेग की मृत्यु के बाद फूफी के घर की आर्थिक-विपन्नता, पाकिस्तान का बनना, मोहसिन का मोहर्रम, आदि घटनाओं का एक लम्बा सिलसिला चलचित्र की भांति भांति हमारी नज़रों से गुज़रता जाता है।

---

१. 'काला जल' पृ० ७६।

इसके साथ ही उपन्यास में शबेबरात, उसमें मृत लोगों की रूहों को दी जाने वाली फ़ातिहा, उस समय मृत व्यक्तियों की प्रिय वस्तुओं को रखना, रोटियां बदलना : सगे-सम्बन्धियों में हिस्से बांटना : बकरीद, मुहर्रम आदि त्यौहार : मिलाद जैसे धार्मिक अनुष्ठान तथा शादी-ब्याह जन्म-मरण के नेगों और रीति-रिवाजों बड़ा सूक्ष्म एवं कलात्मक अंकन उपलब्ध होता है। डॉ० कुसुम वार्ष्णेय ने प्रस्तुत उपन्यास की तुलना 'आधागांव' से करते हुए लिखा है : "मुस्लिम समाज की आन्तरिक हलचल और स्पन्दन की पकड़ (काला जल) गहरी और तीखी है। और केवल इतना ही है कि जहां 'आधागांव' का कैनवस विस्तृत है, वहां काला जल थोड़ा सिमटा हुआ है। जहां 'आधागांव' में सांस्कृतिक विघटन और विकृतियां ध्वनित हुई हैं, वहां 'काला जल' में वे स्थूल स्पष्ट और स्थूल रूप में सामने आयी हैं। 'काला जल' में समाज में व्याप्त बदबू-सड़ांध की गन्ध तीखी है, वहां 'आधा गांव' गाली-गलौज के स्तर पर व्यंग्य करने पर भी उस सड़ांध को केवल ध्वनित करता है।"[1]

डॉ० कुसुम वार्ष्णेय के उक्त मत से हम पूर्णतया सहमत नहीं हो सकते। 'काला जल' का कालगत फलक तो अत्यन्त व्यापक है जिसमें विगत सौ-डेढ़ सौ वर्षों की सामाजिक-राजनीतिक हलचलों के वृत्त बनते जाते हैं। हाँ, जहाँ रज़ा में रेणु-सा कलात्मक बिखराव मिलता है, वहां शानी में एक सुगठित वस्तु, तथापि उसकी घटनाओं को नितान्त स्थूल नहीं समझा कहा जा सकता। बल्कि कहना चाहिए कि समूचे कथापट को लेखक ने सूक्ष्म कलात्मक दृष्टि से बुना है। इसकी तेरह पंक्तियों वाली संक्षिप्त भूमिका में लेखक ने लिखा है : "अपनी ओर से मुझे इतना ही कहना चाहिए कि इसे मैंने गम्भीरतापूर्वक, पूरी निष्ठा, सचाई और ईमानदारी से लिखा है और इसकी सृजन-प्रक्रिया के बीच मेरी मन:स्थिति उस प्रार्थनारत व्यक्ति की तरह रही है, जो अत्यन्त निश्छलतापूर्वक सिजदे में पड़ा हो -- सभी से कटा हुआ, एकाग्र और तल्लीन।"[2]

उपन्यास के अन्त भाग में चित्रित नायडू का करुण अन्जाम एक बार पुन: 'मैला आंचल' के बावनदास की याद दिलाता है। कुंभकर्ण की नींद में सोये हुए

---

१. 'सम्मेलन पत्रिका' : साहित्य-संस्कृति-भाषा विशेषांक : पृ० १२६।

२. 'काला जल' : भूमिका से।

हुए बस्तर को जगाने का भगीरथ कार्य उन्होंने किया था, परन्तु लोगों की गद्दारों से वे अन्त में पागल हो जाते हैं। उनके निम्न कथन में आत्माभिमान और साथ ही लोगों की उदासीनता के प्रति घोर वितृष्णा का भाव मिलता है: 'तुम क्यों मर गए? तुम्हें पैदा हुए अभी दिन ही कितने हुए हैं? मुझे देखो मैं कितने बरस तक अकेले जीता रहा, हालांकि अब मैं मर रहा हूं, कुछ दिनों में जिस्म बेहिस और बेहरारत हो जाएगा, लेकिन मैं जानता हूं कि मेरी लाश भी तुम सब लोगों से बड़ी होगी।'[1]

द्वितीय विश्वयुद्ध में हुए अणु-विस्फोट ने जापान के दो शहरों को न केवल भस्मीभूत कर दिया, बल्कि आने वाले अनेक वर्षों तक उन्हें विकलांग और विकृत बना दिया। भारत-पाकिस्तान का विस्फोट भी एक ऐसा ही विस्फोट है जिसने आने वाली अनेक पीढ़ियों के मानस को विकलांग और विकृत कर दिया है। भारतीय मुसलमान चाहें जितने राष्ट्रीयता के दावे करें या राष्ट्रीय बनें इस देश में सदा ही उनका चरित्र संदिग्ध बना रहेगा। मोहसिन के इस कथन में शानी की ही बेलाग और बेबाक निश्छलता टपकती है: 'यहां जिन्दगी भर बीच के आदमी बने रहोगे, न इधर के न उधर के।'[2]

मोहसिन का यह आक्रोश सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के प्रति है। 'मैला आंचल' की भांति यहां भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद खून लगाकर शहीद होने-वालों के डंके बजने लगते हैं। 'सन सैंतालीस के पन्द्रह अगस्त के बाद से वैसे लोगों की बाढ़ आ गयी है।.... हर ईमानदार आदमी या तो उन पर हंसता है या अपना ही माथा पिट लेता है। बताओ क्या यह रोने का मकाम नहीं है कि सचमुच त्याग और बलिदान के जो नौकरी या अपनी प्रतिष्ठा की आड़ लिए सिर छिपाए बैठे थे, वे गांधी टोपी ओढ़कर पाप धो बैठे और आज नेता, सरपरस्त तथा देशभक्त हैं और मिनटों में हम लोगों का भाग्य बना-बिगाड़ सकते हैं।'[3] यहां समसामयिक परि-स्थितियों का बड़ा ही बेबाक, तीखा और यथार्थ आकलन लेखक ने किया है। 'आधा गांव' के हकीम साहब की भांति यहां भी मास्टर अशफाक की अस्सी-बयासी बरस की

---

१. 'काला जल' : पृ० ३२५। २. वही : पृ० ३६१। ३. वही : पृ० ३५८।

बेवा मां ` रूई जैसे सफेद बाल लिए वह दो देशों के बीच लटकी जैसे मकड़े की जिन्दगी जी रही है -- एक छूटता नहीं, दूसरा जुड़ता नहीं । `[1]

प्रत्येक महान कृति अपने में अनेक प्रश्न-चिह्नों को बनाए चलती है। शानी का यह ` काला जल ` भी मध्यवर्गीय मुस्लिम समाज के विगत डेढ़-सौ वर्षों के व्यापक फलक की पृष्ठभूमि में अनेक प्रश्नों को उकेरता चला जाता है जो हमारे मनो-मस्तिष्क को बुरी तरह से झकझोरते हैं और ये प्रश्न ही उपन्यास को सार्थकता प्रदान करते हैं। ` नदी और सीपियां `, ` एक लड़की की डायरी ` तथा ` शालवनों के द्वीप ` प्रभृति उनकी अन्य उल्लेखनीय औपन्यासिक रचनाएं हैं।

मित्रो मरजानी (१९६७)

हिन्दी कथा-साहित्य की ` बोल्ड ` अतः बहुचर्चित एवं विवादित लेखिकाओं में कृष्णा सोबती का नाम लिया जाता है। उनकी अभी तक प्रकाशित कथा-कृतियों में ` बादलों के घेरे `, ` तीन पहाड़ `, यारों के यार `, ` डार से बिछुड़ी `, ( १९५८ ), ` मित्रो मरजानी ` (१९६७), तथा ` सूरजमुखी अंधेरे के ` (१९७२) हैं जिनमें से प्रथम तीन लम्बी कहानियां हैं और शेष तीन लघु- उपन्यास हैं। कृष्णा सोबती के साहित्य पर सबसे बड़ा आरोप ` अश्लीलता ` का लगाया जाता है, परन्तु वह कदाचित् एक लेखिका द्वारा लिखा जाने के कारण हुआ है। हमारे पुरुष आलोचक शायद एक स्त्री द्वारा स्त्री की तटस्थ अभिव्यक्ति को, कुछ साहसिक और नये तेवरों से युक्त अभिव्यक्ति को , देखकर कुछ स्तंभित हुए हैं। उनके शताब्दियों से संचित संस्कारों को एक नारी की ऐसी अभिव्यक्ति से कुछ आश्चर्य हुआ है, अन्यथा ` एक पति के नोट्स `, रेखा `, ` मुरदा घर `, ` आगामी अतीत `, `दिल एक सादा कागज़ ` प्रभृति कृतियों में नीति-शास्त्रियों द्वारा वर्जित प्रदेशों को `वर्जित` शब्दावली में ही देने का साहस अनेक पुरुष-लेखकों ने किया है। डॉ० घनश्याम मधुप के शब्दों में ` दरअसल कृष्णा सोबती ने स्त्री होकर स्त्री को उद्घाटित करने का तथा पुरुष को पहचानने का प्रयत्न किया है, पुरुष जिस क्षेत्र पर अपना एकाधिकार समझता आया है उसमें स्त्री के प्रवेश से उत्पन्न उसकी बौखलाहट स्वाभाविक

---

१. ` काला जल ` : पृ० ३६२ ।

कही जा सकती है।"[1] वैसे स्त्री की 'समर्पिता' मुद्रा से कृष्णा सोबती भी अभी मुक्त नहीं हुई हैं।

'मित्रो मरजानी' की सुमित्रावन्ती उर्फ मित्रो हिन्दी कथा-साहित्य का एक अनोखा नारी पात्र है जिसमें नारी की पुरानी मुद्रा एवं बिम्ब को लेखिका ने चुनौती-सी दी है। 'मित्रो' ने एक विवादास्पद नारी-चरित्र के रूप में हिन्दी साहित्य में प्रवेश किया है और नगरीय शिक्षित समाज में उसके प्रति एक विशिष्ट प्रकार की जिज्ञासा जागृत हो गयी है। मित्रो का उसकी मां के साथ का बहनापा कइयों को अस्वाभाविक भी लग सकता है। मित्रो की मां स्वयं अपनी विवाहिता बेटी की काम-तृप्ति के लिए अपने डिप्टी प्रेमी की व्यवस्था करती है। "जहरीली आंखों वालीने (मित्रो की मां) लाड़ बरसाया और हाथ से संभाल लड़की को बाहर ले चली -- तेरा सिंह तो, वाह-वाह, मांद में सोया पड़ा है। अब चलकर ज़रा शेर बब्बर से भी टाकरा कर ले।"[2] बालो जब मित्रो के पति सरदारी के सिरहाने बैठ पहरा देने की बात करती है तब मित्रो मां की ठिठोली करते हुए गुद-गुदाकर कहती है --"ऐसा गज़ब न करना, बीबी, मैं हाथ से अपना गबरू गंवा बैठूंगी।"[3] मां-बेटी का ऐसा सम्बन्ध हिन्दी पाठकों को थोड़ा चौंकाने वाला जरूर है। परन्तु पंजाब देश की मिट्टी की सोंधी गन्ध कहानी में इतनी रसी-बसी है कि इसका माधुर्य किसी लोकगीत की धुन का-सा प्रभाव डालता है।

गुरुदास और धनवन्ती का भरा-पूरा परिवार है। तीन लड़के हैं -- बनवारी, सरदारी और गुलजारी। लड़की जनको की शादी कर उसे भी ठौर-ठिकाने लगा दिया है। मित्रो मझले लड़के सरदारी की पत्नी है। वह जिस वृन्त पर खिली है उसे वासनाओं ने सींचा है और उसका शैशव भी मां के घर के विलासी वातावरण से पोषित हुआ है। वह स्वयं कहती है - सात नदियों की तारू, तवे-सी काली मेरी मां, और मैं गोरीचिट्टी उसकी कोख

---

१. 'हिन्दी लघु-उपन्यास' : पृ० १७२।
२. मित्रो मरजानी' : पृ० १०७। ३. वही : पृ० १०७।

पड़ी । कहती है कि इलाके के बड़भागी तहसीलदार की मुंहादरा है मित्रो । अब तुम्हीं बताओ, जिठानी, तुम जैसा सत-बल कहाँ से लाऊँ पाऊँ-लाऊँ ? देवर तुम्हारा मेरा रोग नहीं पहचानता । बहुत हुआ हफ्ते-पखवारे ..... और मेरी इस देह में इतनी प्यास है, इतनी प्यास है कि मछली-सी तड़पती हूँ ।'[1]

सेक्स की यह अभुक्ति मित्रो को वाचाल बना देती है । वह जेठ-जिठानी, सास-ससुर तक की लाज नहीं रखती । इस 'सैक्सुअल-फ्रस्ट्रेशन' के कारण ही वह जली-भुनी रहती है । वैसे अपने पति एवं परिवारवालों के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करने में वह आगा-पीछा नहीं देखती । सबसे छोटा गुलजारी जब ग्राहकों से रूपया लेकर पत्नी फूलावन्ती पर उड़ा देता है तब परिवार को ऋण के बोझ से मित्रो ही अपने सहेजे हुए रूपये एवं गहने देकर मुक्त करती है । फूलावन्ती एक कर्कशा स्त्री है । उसकी जान हमेशा गहनों में बसती है । सास धनवन्ती तो गाय जैसी है । कुछ कह नहीं पाती । केवल मित्रो ही उसको ईंट का जवाब पत्थर से देती है । फूलावन्ती और सुहागवन्ती, दोनों दो अलग छोरों पर हैं । जहां फूलावन्ती लोभिन, स्वार्थी व झगड़ालू है वहां सुहागवन्ती पति-परिवार तथा सास-ससुर को अत्यधिक श्रद्धा से देखती है तथा उनके लिए निरन्तर चिन्तित रहती है । फूलावन्ती अपने पति को पक्ष में लेकर घर में भी फूट डालती है और पति को लेकर मैके चली जाती है, जहां कुछ दिन रह लेने के बाद गुलजारी की आंखों से परदा हटने लगता है और उसे अपनी भूल पर पश्चाताप होता है ।

जब सुहागवन्ती की गोद हरी होती है तब पहले तो मित्रो खूब चुहल करती है पर बाद में उसकी स्त्री सहज मातृत्व की भावना उसके स्वभाव को और तिक्त बना देती है । 'मेरा बस चले तो गिनकर सौ कौरव जन डालूं, पर अम्मा अपने लाड़ले बेटे का भी तो आड़तोड़ जुटाओ । निगोड़े मेरे पत्थर के बुत में भी कोई हरकत तो हो ।'[2] अन्त में इसी दुर्दम्य काम-वासना की पूर्ति हेतु वह मां के पास जाती है । मां बेटी के लिए सारी तैयारियां कर देती है, परन्तु अन्त में मां की आंखों में एक अजीब-सी चमक देखकर वह दौड़कर सरदारीलाल के कमरे में जाकर अन्दर से दरवाजा

---

१. 'मित्रो मरजानी' : पृ० २० । २. वही : पृ० ८४ ।

बन्द कर लेती है। इस प्रकार मित्रो 'समर्पिता' एवं 'गृहीत्वा दोनों है, परन्तु अन्त में जाते-जाते उसकी वह समर्पण भावना प्रबल हो जाती है। इसे कृष्णाजी की 'बोल्डनैस' पर भारतीय संस्कारों एवं परम्पराओं का विजय ही मानना चाहिए।

इस प्रकार मित्रो "मांस-सज्जासे बनी एक नारी है, जिसमें स्नेह भी है, ममता भी, मां बनने की हौंस भी और एक अविरल बहती वासना-सरिता भी।"[1] इस उपन्यास की एक और विशेषता है उसका भरा-पूरा प्रसन्न पारिवारिक वातावरण। घरेलू समस्याओं के बावजूद उपन्यास में आद्यन्त एक प्रसन्न पारिवारिक जीवन की महक उपलब्ध होती है जो इधर के उपन्यासों में दुर्लभ-सी होती जा रही है।

सूरजमुखी अँधेरे के (१९७२)

परम्परागत नारी-मुद्रा के विपरीत नारी-मन का स्वतन्त्र या स्वच्छन्द आलेखन तथा भाषा का एक विशिष्ट नवीन मुहावरा जहां कृष्णाजी के कथाकार की शक्ति है, वहां मर्यादा और सीमा भी। परन्तु भाषा के उस मुहावरे का सीमोल्लंघन 'सूरजमुखी अंधेरे के' में हुआ है। 'यारों के यार' में आफिस के माहौल को कुछ 'बोल्ड' कही जाने वाली शैली में प्रस्तुत किया था तो प्रस्तुत उपन्यास में नारी-जीवन की एक अछूती मनोवैज्ञानिक समस्या को निरूपित कर सोबतीजी ने निश्चय ही एक साहस का काम किया है। 'मित्रो मरजानी' की मित्रो जहां जातीय-जीवन की दृष्टि से अत्यन्त गरम है, वहां इस उपन्यास की रत्तिका बरफ का ठण्डापन लिए हुए है।

शैशवकाल में किये गये अवांछित और अबोध बलात्कार ने रत्तिका या रत्ती के जीवन में अनेक समस्याएं ~~उत्पन्न~~ उपस्थित कर दीं। उसका सारा जीवन एक 'फटी जिन्दगी' बनकर रह गया। 'मछली मरी हुई' की शिरीं मेहता प्रसुति-काल में मां की मृत्यु से आहत होकर पुरुष-समागम को भय की दृष्टि से देखती हुई समलैंगिकता की ओर जाती है: परन्तु यहां बचपन की वह दुर्घटना रत्ती के लिए एक

---

१. 'मित्रो मरजानी' : कवर पृष्ठ से।

दु:शाप बन जाती है। एक दुराचारी पुरुष द्वारा किये गये अत्याचार का बदला वह सम्पूर्ण पुरुष-जाति से लेने की ठान लेती है। पुरुष के प्रति वह अत्यन्त कठोर बन जाती है। असाधारण सुन्दरता एवं 'स्मार्टनेस' के मोहपाश में फंसाकर वह पुरुषों को अपनी ओर खींचती है और जब वे एकान्त क्षणों में उसके बिलकुल पास आने के लिए छटपटाते हैं तभी वह उन्हें छोड़कर किनारा कर जाती है। १२५ पृष्ठ के इस उपन्यास में सोलह पुरुष उसकी जिन्दगी में आते हैं, पर वे सभी उसके 'जालिम ठण्डेपन' के शिकार होकर तड़पते रह जाते हैं।

इस अमानवीय क्रीडा में उसे भी आनन्द आता हो, ऐसा नहीं। कथ्य की दृष्टि से ठीक यहां पर यह उपन्यास 'उग्र' के 'बुधुआ की बेटी' (१९२८) से अलग पड़ता है। जहां प्रस्तुत उपन्यास की नायिका अपने इस फटे बचपन के कारण अभिशप्त हो इस विभीषिका में जलती है, वहां 'बुधुआ की बेटी' की राधिया को पुरुषों को ललचाकर छोड़ देने में एक अमानुषी आनन्द की प्राप्ति होती है।

रत्ती का जीवन मरू-भूमि-सा हो जाता है। परन्तु शैशवकाल में अवचेतन में पड़ी हुई उस ग्रन्थि के कारण विवश है। प्रयत्न करने पर भी सहज नहीं हो सकती। अन्तत: उसकी यह ग्रन्थि दिवाकर नामक एक विवाहित पुरुष के द्वारा टूटती है और वह उसे समर्पित हो जाती है। परन्तु वहां उसके स्त्री-सहज संस्कार आड़े आते हैं। अन्त में वह दिवाकर से कहती है --"मैं जुड़े हुए को नहीं तोडूंगी। विभाजन नहीं करूंगी। मेरी देह अब तुम्हारी प्रार्थना है दिवाकर।"[१]

आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार की शत्रुता से लड़ती रत्ती संघर्ष करने का साहस करती है। नारी के मन की व्यथा-कथा इतने मर्मस्पर्शी ढंग से कही गई है कि लेखिका की शैली पर प्रशंसा और साधुवाद देने को जी चाहता है। रत्ती की वेदना को सोबतीजी का कलाकार ही परख कर मार्मिक ढंग से प्रस्तुत कर सकता था।

जीवन के कटु सत्य का बेबाक चित्रण इस उपन्यास की प्रधान विशेषता है। रत्ती में एक सहज अनोखापन है और एक 'जालिम ठण्डापन' भी। हर पुरुष उसके विषय में एक मृगतृष्णा पालता है और मोहभंग होने पर सोचता है कि वह औरत है भी या नहीं? रत्ती पल पल पर ज़हर पीती है और अमृत की तलाश में घूमती है पर उसे अमृत कहीं नहीं मिलता। सभी ओर से वही लैंगिक मांग मात्र

१. 'सूरजमुखी अँधेरे के': पृ १२५।

मिलती है, उसके मन को छूने का प्रयत्न कोई नहीं करता ।

अन्ततः जिस्मानी तौर पर दिवाकर से ही तृप्त होती है और उसे लगता है कि उसके सारे शून्य भरे जा चुके हैं ।[1] फिर भी वह किसी से नहीं जुड़ती और अकेलेपन के अहसास को जिया करती है । दिवाकर और रत्ती के सम्भोग के वर्णन जिस कलात्मक ढंग से उकेरे गये हैं वे लेखिका की सर्जक-शक्ति के उदाहरण हैं । " शिल्प की दृष्टि से कृष्णा सोबती का यह उपन्यास चुस्त और सुगठित है । ' पुल ', ' सुरंग ' और ' आकाश ' शीर्षक तीन अध्यायों में कथावस्तु को बांटकर लेखिका ने एक सुलझे हुए स्थापत्य का निर्वाह किया है और प्रसंगानुसार प्रत्यक्-दर्शन शैली (फ्लैश बैक) का बढ़िया उपयोग किया है ।..... पूरे उपन्यास की भाषा बहुत दूर तक सांकेतिक है और इसी के सहारे लेखिका ने संयोग-श्रृंगार के स्थूल प्रसंगों को भी सूक्ष्म -शालीन ढंग से चित्रित करने में सफलता पाई है ।"[2]

इस प्रकार विषय की एकांगिता, सघन संवेदनात्मकता तथा सूक्ष्म सांकेतिक अभिव्यंजना शैली के कारण ' सूरजमुखी अँधेरे के ' इस दशक का एक श्रेष्ठ लघु-उपन्यास ठहरता है ।

मन वृन्दावन (१९६६)

सुप्रसिद्ध नाटककार डा० लक्ष्मीनारायण लाल एक लब्धप्रतिष्ठ कथाकार भी हैं । इस क्षेत्र में उनका प्रदान प्रेमचन्दोत्तर काल में सन् १९५१ से ही प्रारम्भ हो जाता है । उनके साठ के बाद के उपन्यासों में ' मन वृन्दावन ' (१९६६), ' प्रेम अपवित्र नदी ' तथा ' हरा समन्दर गोपी चन्दर ' प्रभृति प्रमुख हैं । आधुनिक वेशभूषा में सज्ज डॉ० लाल के भीतर एक अलहड़ देहाती कभी फाग तो कभी विहाग आलापता हुआ हमें दृष्टि-गोचर होता है । इस सम्बन्ध में इलाचन्द्र जोशी के यह शब्द उल्लेखनीय प्रतीत होते हैं -- " सभ्य नागरिक बनने का इच्छुक यह लेखक अपने व्यक्तित्व की देहाती मिट्टी को जी-जान से प्यार करता है । अपने नागरिक बन्धुओं के बीच, उसके कारण

---

१. ' सूरजमुखी अँधेरे के ' : पृ० १२१ । २. कुमार विमल : आलोचना-२२ (१९७२) : पृ० १०४ ।

संकुचित न होकर वह उस पर गर्व का अनुभव करता है। उस देहाती मिट्टी की गर्द उसके ऊपर लहलहाने वाली मुक्त हरियाली, उसके खेत-खलिहानों से जुड़े हुए, धूल भरे जीवन में बिखरी हुई मस्ती, रसमयता और पंकिलता -- इन सभी तत्वों के रंग इस सूट-बूटधारी नाटककार के केवल भीतरी व्यक्तित्व में ही घुले हुए नहीं हैं, वरन् उसके बाहरी व्यक्तित्व की ऊपरी कृत्रिमता में भी छिटके हुए दिखाई दे सकते हैं।"[1]

इस देहाती आत्मा के स्वेच्छारोपित नागरिक व्यक्तित्व के भीतर एक रसभीना, प्रेम-सींझा[2] व्यक्तित्व छिपा है, जिसका अनुभव हमें उनके प्रस्तुत उपन्यास में होता है। 'मन वृन्दावन' मथुरा से कृष्ण की लीलाभूमि वृन्दावन की ~~कौरस~~ चौरासी कोस की यात्रा की ही कहानी नहीं, प्रत्युत यात्रा के अन्तर्मन में चलती हुई असंख्य यात्राओं तथा उपयात्राओं की कथा है।

यह यात्रा स्मृतियों के सहारे चलती है। सुबन्धु, हिरनमयी और सुगन इस स्मृति-यात्रा के ज्योतिबिन्दु हैं। पतितराम इस यात्रा में एक निरपेक्ष द्रष्टा के रूप में शामिल है। वह सुगन के पति प्रीतमदास की बहंगी ढोता है। हिरनमयी अपने पति शुभ्रांशु बाबू के साथ आयी है। सुबन्धु अपने अतीत एवं वर्तमान के बीच टकराता हुआ जीवन को पा जाने का असफल प्रयत्न करता है और उसीमें वर्तमान के जल-भुन जाने पर अपनी जीवन-यात्रा को समेट लेता है। हिरनमयी उसका अतीत है और सुगन वर्तमान। एक बीत चुका है, अप्राप्त है : दूसरा सामने है, प्राप्त है। पर अतीत की दूरी, धुंधलापन और अप्राप्ति से मनुष्य को सदैव एक मोह रहा है। "इस दुनिया में सब कहीं-न-कहीं इसी तरह प्रेम करते हैं। एक दूसरे को, दूसरा तीसरे को, और तीसरा चौथे को। यही करुणा है, जो प्राप्त है, उससे कोई नहीं प्यार करता।"[3] जीवन की यही ट्रैजडी हमें 'मन वृन्दावन' में उपलब्ध होती है।

हिरनमयी रंगोली स्टेट के राजकुमार यशोवर्मा से प्रेम करती थी। सुबन्धु ने तब दोनों के बीच सेतु का काम किया था। पर यशोवर्मा ने हिरनमयी को धोखा दिया था। वह विवाहित था। प्रेमभग्न हिरनमयी के घावों पर तब सुबन्धु ने अपनी सहानुभूति के अनुलेप से कुछ आश्वस्त किया था। पर इस प्रक्रिया में वह स्वयं

---

१. 'मेरा हमदम मेरा दोस्त' : सं० कमलेश्वर : पृ० ७३। २. वही : पृ० ७६।
३. 'मन वृन्दावन' : पृ० ७७।

उसके प्रेम का शिकार होकर टी०बी० का मरीज हो जाता है। उपन्यास के एक पात्र श्यामली के शब्दों में "समान-समान का जब भाव मिले, तो वहां प्रेम सम्पूर्ण होता है। नहीं तो वहां सिर्फ स्नेह है, दया है, सहानुभूति है।"[1] सुबन्धु इस तथ्य को विस्मृत कर जाता है, जिसकी पैनल्टी भी ज़िन्दगी के रूप में देनी पड़ती है।

सुगन का पति प्रीतमदास पंगु है। सुगन को उसके प्रति केवल करुणा है, स्नेह है, सहानुभूति है। उसके मन-वृन्दावन में तो सुबन्धु है। पर सुबन्धु के जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि वह हमेशा तीसरा आदमी बनकर आया -- हिरन-मयी और यशोवर्मा के बीच, सुगन ~~हन~~ और प्रीतमदास के बीच। सुगन को मिलने के पश्चात् वह कुछ-कुछ स्वस्थ होने लगा था, तभी अचानक उस यात्रा में हिरनमयी से उसकी भेंट हुई थी और अतीत की उस कटुता ने वर्तमान को भी कटु बना दिया था। हिरनमयी के सन्दर्भ में वह सुगन से झूठ बोल जाता है, पर उसकी बहुत कड़ी सजा उसे मिलती है। सुगन जब सत्य से परिचित होती है तब वह उसे झेल नहीं पाती और जलकर आत्महत्या कर लेती है। सुबन्धु इस दूसरे आघात को बर्दाश्त नहीं कर ~~सकता~~ पाता और वह भी उस महायात्रा को चल पड़ता है।

पतितराम एक कुंभार का बेटा है। पहले किसी के कहने पर संसार को माया समझकर वैरागी हो जाता है पर पूरे ग्यारह वर्ष, तीन महीने, दो रोज, सात घड़ी बाद उसकी निरर्थकता के ज्ञात होने पर एकाएक सब ~~छोड़कर~~ छोड़-छाड़कर पुनः जीवन-संघर्ष में रत हो जाता है। मेहनत-मजदूरी करता है। रिक्शा चलाता है। ऐसे में ही सुगन के यहां नौकर रहता है और फिर उनके साथ इस वृन्दावन-यात्रा में बहंगी ढोता हुआ आता है। एक विधवा ब्राह्मणी जैजैवन्ती अपने छः-सात वर्ष के पुत्र राहुल के साथ इस यात्रा में आयी है। पतितराम को राहुल से ममता हो जाती है। जैजैवन्ती भी पतितराम को चाहने लगती है। राहुल का उसे काकू कहना अच्छा लगता है। परन्तु उसके मन पर पुराने संस्कारों की बेड़ियां पड़ी हुई हैं जो उसे पतितराम की ओर जाने से रोकती है। अन्ततोगत्वा यहां भी लेखक का वही दर्शन कामयाब होता है कि प्राप्त से प्रेम नहीं हो सकता। सुबन्धु, जैजैवन्ती, हिरनमयी सभी अपने उस कटु अतीत से जुड़े हुए हैं जो वर्तमान को पूर्णतया अंगीकृत नहीं कर सकते।

---

१. 'मन वृन्दावन' : पृ० ७७।

'मन-वृन्दावन' हिरनमयी, सुबन्धु एवं सुगन के प्रणय-त्रिकोण की कथा है, पर साथ ही साथ इसमें ऐसे अनेक त्रिकोण हैं। सुबन्धु की पूर्वशती और उत्तरशती के बीच की यात्रा का त्रिकोण, सुबन्धु, अौ यशोवर्मन और हिरनमयी का त्रिकोण, सुबन्धु, हिरनमयी और शुभ्रांशुबाबू का त्रिकोण, सुबन्धु-सुगन और प्रीतमदास का त्रिकोण :पतितराम, जैजैवन्ती और उसके मृत पति का त्रिकोण। मथुरा-वृन्दावन की यात्रा में लेखक ने विभिन्न स्थानों से सम्बन्धित पौराणिक कथाओं को भी जोड़ा है। बयालीस की क्रान्ति की पृष्ठभूमि में स्वातन्त्र्योत्तर भारत के मोहभंग को दिखाकर लेखक ने बड़ी कुशलता से व्यंजित किया है कि किस प्रकार मुचुकन्द जैसे क्रान्तिवीर की जोती हुई ज़मीन पर कुछ स्वार्थ-लिप्सु क्षुद्र नेता अब लहलहाती खेती काट रहे हैं और मुचुकन्द जैसे लोग दुर्गन्धि बाबा के नाम-रूप से अज्ञात के गर्त में समा गये हैं। संक्षेप में प्रस्तुत उपन्यास को पढ़कर बार बार यह पंक्ति स्मृति-पटल पर उभरती है कि --'भावना में खोना जीवन से हाथ धोना है।'

प्रेम अपवित्र नदी

लक्ष्मीनारायण लाल का यह ३८८ पृष्ठीय उपन्यास विस्तृत समय-फलक को लेकर लिखा गया है। दिल्ली के 'कपूरवाले' परिवार की यह तीन पीढ़ियों की कथा है। विस्तृत समय-फलक एवं दो-तीन पीढ़ियों की कथा-प्रवृत्ति 'भूले-बिसरे चित्र' (भगवतीचरण वर्मा), काला जल (शानी) तथा आधागांव' (डॉ० राही मासूम रज़ा) प्रभृति में मिलती है, परन्तु उक्त तीनों रचनाओं में जहां घटनाओं का यथोचित गुम्फन मिलता है, वहां प्रस्तुत कृति में बिखराव आ गया है। कथा का प्रारम्भ जितना प्रभावोत्पादक है, उसका समुचित निर्वाह लेखक नहीं कर पाया है। गदर के बाद से लेकर स्वातन्त्र्योत्तर मोहभंग तक की कथा को लेखक ने लिया है। ऐतिहासिक जानकारियों का सही उपयोग भी हुआ है, परन्तु जीवन की जो अनुभूति उक्त तीनों रचनाओं में हो सकी है उसका यहां अभाव है क्योंकि घटनाओं तथा पात्रों पर लेखक का दर्शन हावी हो गया है।

दिल्ली के चांदनी-चौक स्थित नीलकटरा का 'कपूरवाला' परिवार रूढ़िग्रस्त, परम्परावादी, धार्मिक (अपने रूढ़ अर्थ में) एवं राजभक्त (अंग्रेजों के जमाने में अंग्रेज का तथा आज़ादी के बाद कांग्रेस का) परिवार था। धनप्राप्ति तथा उसके लि लिए नवीन व्यावसायिक तरीकों की खोज ही उनके जीवन का परम कर्तव्य हुआ करता था।

इसी `कपूरवाला` परिवार का सूरजकपूर हरिद्वार में कुल-रीति निभाने के लिए अपनी पत्नी ब्रजरानी देवी का दान महावीर पण्डे को दे देता है। परन्तु ब्रजरानीदेवी के सौन्दर्य से पागल महावीर किसी मूल्य पर ब्रजरानी को वापिस नहीं करता। सूरज-कपूर दिल्ली लौट आता है। शुरू में मन को व्यवसाय में लगाता है, पर बादमें अपनी कायरता पर पश्चाताप करता हुआ तपेदिक से मर जाता है। `कपूरवाला` परिवार में केवद पिहानी वाली (मालिक हीराचन्द कपूर की धर्मपत्नी) ब्रजरानी को पुन: लाने का प्रयत्न ~~करती है~~ नौकर रामहल्ला तथा पंचानन चोर के द्वारा करती है। दूसरी ओर ब्रजरानी महावीर के भरसब प्रयत्नों के बावजूद उससे खिंची हुई रहती है। इन्हीं दिनों में उसका परिचय नन्दिनी नामक एक स्त्री से होता है जो एक फरार क्रान्तिकारी के प्रभाव में थी। एक रात महावीर की हवेली पर डाका पड़ता है और डाकू का सरदार ब्रजरानी देवी को अपने साथ ले जाता है। डाकू-सरदार के सद्व्यवहार से प्रभावित ब्रजरानी उसे समर्पित हो जाती है, परन्तु बाद में उसकी पत्नी का रूख देखकर महावीर के पास चल देती है। महावीर अन्तिम घड़ियां गिन रहा था। वह अपनी सारी संपत्ति उसके नाम कर जाता है। ब्रजरानी कुछ संपत्ति गंगा-पंचानन को तथा दस हजार रूपये अपने पुत्र विष्णुपद को देकर गंगा में डूब मरती है।

विष्णुपद सदा अपनी मां के लिए व्याकुल रहता है। वह `कपूरवालों से घृणा करने लगता है। इंग्लैण्ड से जब वह क्रान्तिकारी विचारों को लेकर आता है `कपूरवालों` पर वज्राघात होता है। वह नवभारत नामक एक पत्र चलाता है। हीराचन्द कपूर का पुत्र कुमार `कपूरवालों` की परम्परा को आगे ही नहीं बढ़ाता बल्कि उसे अत्याधुनिक रूप भी देता है। कनाट प्लेस में बारालम्भा रोड पर वह एक शानदार कोठी बनवाता है। उसकी पत्नी शिवानी शिक्षित ही नहीं, वरन् संगीत, साहित्य एवं कला की मर्मज्ञ भी है। अत: अपने पति से विद्रोह करती है और उससे तलाक लेकर कुछ वर्ष देशसेवा का काम करते हुए अन्तत: विष्णुपद से विवाह कर लेती है। दोनों मिलकर देश के कार्य में जुट जाते हैं। अपनी सेवा के कारण विष्णुपद संसद-सदस्य के रूप में चुन लिया जाता है। उसी को हराने के लिए पंचानन नामक चोर को देश-विदेश घुमाकर स्वामी मक्तानन्द के रूप में प्रस्थापित किया जाता है। विष्णुपद पंचानन का पर्दाफाश करना चाहता है, परन्तु पंचानन (स्वामी मक्ता-नन्द) का प्रभाव धर्मप्राण (?) जनता पर इतना बढ़ जाता है कि उसे अनेक शहरों की अदालतों में खाक छाननी पड़ती है। कुमार और शिवानी का लड़का विजय पहले तो

अपने पिता के कदमों पर चलता है, परन्तु बाद में लिलियन नामक एक विदेशी युवती के प्रेम में पागल होकर हिप्पी बन जाता है और अन्तमें गरीब बस्तियों में काम करते-करते लिलियन को पा जाता है।

कुमार की स्थिति अन्त में बड़ी दयनीय हो जाती है। पिहानीवाली अपनी आयु पति हीराचन्द को देकर सती हो जाती है, परन्तु फिर भी हीराचन्द अधिक समय तक जीवित नहीं रहते। यही है 'प्रेम अपवित्र नदी' की स्थूल कथा जिसमें लेखक ने दर्शन का पुट देकर प्रभावशाली बनाने का प्रयास किया है, किन्तु यह दर्शन ही उसे बोझिल बना देता है। यहां लेखक पुन: 'मन-वृन्दावन' के ही ट्रेन्ड को दुहराता हुआ दृष्टिगत होता है। दार्शनिक स्थलों की अतिरेकता कथा के स्वाभाविक प्रवाह में बाधक हुई है तथा पात्रों का निजी व्यक्तित्व भी कुछ हद तक दमित हुआ है। ब्रजरानी, विष्णुपद, शिवानी, पंचानन, नन्दिनी, विजय, लिलियन आदि पात्र 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश' की भांति निरन्तर बदलते-पलटते रहे हैं। कई बार तो एक ही पृष्ठ पर उनके विचारों में बदलाव आ गया है, जो अस्वाभाविक अत: अविश्वसनीय-सा लगता है। उपन्यास के पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध में चित्रित पिहानी वाली का चरित्र परस्पर विरोधाभासी है जिसके लिए कोई संतोषप्रद कारण लेखक नहीं बता सका है। रजा, रेणु और राकेश (मोहन राकेश) में पात्रों की जो पकड़ मिलती है, उसका यहां अभाव मिलता है। पर व्यावसायिक बुद्धिवाले 'कपूरवाला' परिवार का चित्र --- उन में भी सेठ हीराचन्दकपूर तथा कुमार -- का सही व्यक्तित्व लेखक उभार सका है।

'कपूरवाला' परिवार का प्रारम्भिक वर्णन, शिवानी तथा कुमार के बीच का संघर्ष तथा आजादी के बाद की समसामयिक स्थितियों के निरूपण में लेखक को सफलता मिली है। चांदनी चौक, कनाट प्लेस एवं गोल्फ लिंक में विभाजित यह कथा तीन पीढ़ियों के समय को तथा उसमें बदलते-जाते मूल्यों और उनकी टकराहट को चित्रित करती है। वर्तमान राजनीति किस प्रकार बड़े उद्योगपतियों और पूंजीपतियों से अनुशासित है यह भी लेखक ने व्यंजित किया है। लेखक की एक अन्य औपन्यासिक कृति 'हरा समन्दर गोपी चन्दर' सर्वोदयवादी विचारों को अभिव्यंजित करती है।

एक कटी हुई ज़िन्दगी : एक कटा हुआ कागज़ (१९६५)

इस वैज्ञानिक युग के दिग्गामी प्रभावों से आक्रान्त नित्यप्रति परिवर्तित होने वाले जीवन-मूल्यों तथा नवीन खोजों से जीवन आस्थाहीन होकर अपनी धुरी को छोड़ता जा रहा है। यह आस्थाहीन जीवन आधुनिक युग का महान अभिशाप है जिससे वर्त्तमान बौद्धिक पीढ़ी जीवन से कटी हुई प्रतीत होती है। लक्ष्मीकान्त वर्मा प्रणीत उपन्यास 'एक कटी हुई ज़िन्दगी : एक कटा हुआ कागज़' इसी आस्थाहीन जीवन का आख्यान है।

इसकी टेक्नीक सर्वथा नवीन है। इसका नायक अनाम विक्षिप्त एवं मूक है। अनाम के मूक जीवन के केवल तीन दिनों की कथा को -- अर्थात् उसकी पत्नी निशी की चौथी वर्षी से अगले दो दिनों की कथा को -- इसमें स्मृतियां, तथा दीप्ति केवल, डाक्टर और बूढ़े पेन्टर आदि पात्रों के उद्गारों के माध्यम से चित्रित करने का प्रयास किया गया है। अत: उपन्यासकार ने तद्नुरूप वातावरण को निर्मित किया है। उसकी नौकरानी गूंगी है। अनाम मनुष्यों की अपेक्षा मूक प्राणियों तथा पक्षियों को सविशेष प्रेम करता है। अत: उसके मित्र परिवार में जिप्सी (कुतिया), पूसी (बिल्ली), खरगोश के बच्चे, गिलहरी, चिड़ियों के बच्चे तथा खिलौने आदि हैं। अत: इनमें भावनाओं तथा विचारों का आदान-प्रदान संकेतों से होता है।

इसके मुखर पात्रों में केवल, दीप्ति, पेन्टर तथा डाक्टर हैं जिनका वार्तालाप अनाम और निशी की विगत ज़िन्दगी पर प्रकाश डालता है -- ज़िन्दगी जो कट चुकी है। स्वयं वर्माजी के अनुसार अनाम आधुनिक युग के अनभिव्यक्त जीवन की गहनता को भोगने वाले हम सबके व्यक्तित्व का अंश है -- अत: वह सूक्ष्म, अमूर्त और मूक है।[१]

उपन्यास की प्रत्यक्ष घटनाओं में केवल जलप्लावन की घटना है जिसमें इसका नायक बाढ़-पीड़ितों को बचाते हुए स्वयं डूबकर मर जाता है। केवल द्वारा

---

१. 'एक कटी हुई ज़िन्दगी : एक कटा हुआ कागज़' : दो शब्द से : पृ० ४।

बचाने के सभी प्रयत्नों के बावजूद भी वह डूब जाता है क्योंकि जीने की इच्छा ही उसमें खत्म हो चुकी थी। उसकी अन्तिम निशानी के रूप में रह जाता है दीप्ति के नाम लिखा हुआ, एक कटा हुआ कागज़, जिसमें लिखा गया था : "विश्व पर जितने नर हैं वे सिर्फ नर हैं, नारियां नारियां हैं और बालक बालक हैं। कोई इससे न कम है न अधिक।"[1] यही मानो उपन्यास का निष्कर्ष है। परन्तु उपन्यास के नायक या लेखक का यह निष्कर्ष जीवन के व्यापक सत्य को अन्वेषित करने में सक्षम नहीं है। मानव-सत्य या मानव-जीवन की व्यापक सम्भावनाओं के प्रति इसमें दृष्टिपात नहीं किया गया है और लेखक का उद्दिष्ट भी वह नहीं है।

स्मृतियां तथा अन्य पात्रों के वार्तालाप द्वारा कथा को अतीत के आठ-नौ वर्षों तक संक्रमित किया गया है। कथा का नायक अनाम विचारों की नीरस ज़िन्दगी जीने वाला एक विचारक एवं चिन्तक है। अपनी प्रकृति के अनुरूप वह नाईल-वैली के प्रशान्त बंगले में पशु-पक्षियों के बीच मौन वातावरण में सांस लेता है। उसने कई देशों का भ्रमण तथा अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। उसकी इस विराट बौद्धिक प्रतिभा से वशीभूत होकर निशी जीवन भर के लिए उससे बंध गई थी।

निशी इस उपन्यास का एक अमूर्त पात्र है। फिर भी वह स्मृतियों तथा अन्य पात्रों के वार्तालापों में जीवित है। अनाम, उसके विचार तथा उसकी ख्याति के लिए आजीवन संघर्षरत रहती है और अन्तमें उसकी मृत्यु हो जाती है।[2] केवल निशी की मौत के लिए अनाम को ही जिम्मेदार ठहराता है और कदाचित् अनाम की अज्ञात चेतना में भी यही बात बैठ जाती है, अत: वह विक्षिप्त हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विक्षिप्तता के कारणों में व्यक्ति का अत्यन्त कामी (sexy) होना, अत्यन्त महत्वाकांक्षी होना, महान प्रतिभा संपन्न होते हुए भी उपेक्षित रहना प्रभृति मुख्य हैं। अनाम की विक्षिप्तता के भी यही कारण हैं। निशी की मृत्यु के पश्चात् उसका अपनी विचारधारा से भी विश्वास उठ जाता है तथा उसे वह सन्दर्भ, संस्कार और अर्थ से हीन लगती है।

---

१. देखिए : 'एक कटी हुई ज़िन्दगी : एक कटा हुआ कागज़' : पृ० २०४।
२. देखिए : वही : पृ० १३७-३८।

यहाँ से नायक के जीवन का भटकाव शुरू होता है। वर्ष भर तो वह बेचैन होकर इतस्ततः भटकता और कुछ बोलता भी रहा परन्तु अन्तिम दो वर्षों में उसने स्वयं को एक कमरे में बन्द कर मौन धारण कर लिया था। इन्हीं दिनों में केवल से कटी हुई दीप्ति का स्नेह उसे पुनः प्राप्त होता है परन्तु वह स्नेह भी उसके जीवन-दीपक को आलोकित नहीं कर पाता। दीप्ति भागती दुनिया में जीने वाले केवल की पत्नी है। वह तीन वर्ष के लिए उसे छोड़ गया है। इस बीच में अनाम की अद्वितीय प्रतिभा से आकर्षित होकर दीप्ति अपना दिल उसे दे बैठती है। वह डा० जोशी द्वारा अनाम का उपचार करवाती है। उसे शराब पीने से मना करती है। डाक्टर जोशी के अनुसार अनाम 'सेण्टीमेण्टल फूल' है, अतः वह सलाह देता है कि दीप्ति निशी से सम्बन्धित उन तमाम तस्वीरों तथा वस्तुओं को हटा दें। इस प्रयत्न में वह नायक से और निकट आती है। केवल दीप्ति द्वारा पत्नी की मर्यादा का उल्लंघन होते हुए देखकर उसे अनाम के घर छोड़ देता है और स्वयं नाईल वैली से ऊपर की ओर बने अपने मकान में रहने लगता है। दीप्ति पहले अनाम को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करती है, परन्तु उसमें असफल होने पर क्रमशः उसके अनुकूल होती जाती है। यहाँ तक कि उसे अपना सबकुछ समझते हुए उसकी प्रिय शराब भी उसे पिलाने लगती है। उसके मस्तिष्क का सन्तुलन कुछ ठीक हो रहा था कि वह जल प्लावन वाली घटना हो जाती है।

डॉ० धनराज मानधाने के मतानुसार 'उपन्यास के नायक और नायिका का जीवन कटा हुआ है। अनाम विचारों में जीता है। उसके जीवन में भावों की अपेक्षा विचारों का महत्व है। ठीक इसके विपरीत दीप्ति विचारों की उपेक्षा कर भावों में जीती है। जीवन में सन्तुलन अपेक्षित है। किसी एक पक्ष के सहारे जीना जीवन की लीक से कटकर जीना है। दोनों पात्र अपने-अपने इरादे से हटना नहीं चाहते। परिणाम यह होता है कि भावों की उपेक्षा कर विचारों में जीने वाले अनाम को मौत मिलती है और विचारों को छोड़ भावों में जीने वाली दीप्ति को कटी हुई ज़िन्दगी।'[१] संक्षेप में कामायनी के ही दर्शन को यहाँ लेखक दूसरे सन्दर्भ में दोहराता है।

---

१. 'हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास' : पृ० २४६।

टैराकोटा (१६७१)

कवि, आलोचक एवं कथाकार लक्ष्मीकान्त वर्मा प्रकृत्या ही प्रयोग-धर्मी हैं। `खाली कुरसी की आत्मा`, `~~एक कटा हुआ कागज~~ एक कटी हुई जिन्दगी : एक कटा हुआ कागज़`, `कोयला और आकृतियां`, `सफेद चेहरे`, `टैराकोटा` (उपन्यास) : `नयी कविता के प्रतिमान`, `नये प्रतिमान : पुराने निकष` (आलोचना ग्रन्थ) : `नये पत्ते`, `निकष`, `कखग` (सम्पादन) आदि उनकी सभी साहित्यिक प्रवृत्तियां इसी तथ्य का द्योतन करती हैं।

`टैराकोटा` इटालियन शब्द है जो `टैरा` (Terra) और `कोटा` (cotta) के योग से बना है। `टैरा` का अर्थ मिट्टी और `कोटा` का अर्थ है मूर्ति।[१] अत: `टैराकोटा` का अर्थ हुआ मृण्मूर्तियां, मिट्टी के खिलौने। उपन्यास का प्रारम्भ हस्तिनापुर की खुदाई में प्राप्त महाभारत-युद्धोत्तर काल के कुछ अभिशप्त पात्रों की मृण्मूर्तियों से सम्बन्धित रोहित और मिति के वार्तालाप से होता है। अपाहिज कम्बोज सेनापति : उनकी अन्ध पत्नी : तीन पुत्रियां -- ऋतुमिता, ज्योतिमिता, और श्रुतिमिता : पाण्डव सेनापति कौशिकेय और सामन्त रोहिताश्व की यह मृण्मूर्तियां एक प्रकार से हमारे ही प्रतिरूप हैं। रोहित के ही शब्दों में " आज भी दिल्ली में आदमी संत्रस्त है, टूटा हुआ है, दात-विदात है, पंगु है --- फर्क केवल इतना है कि आज की पंगुता मानसिक है और आज से पहले हस्तिनापुर की पंगुता कायिक थी।"[२] प्रारम्भिक `पुरोवचन` में स्वयं वर्माजी लिखते हैं -- `ये अधूरे पात्र ही कलियुग की पूंजी हैं। इन्हीं के आधार पर कलियुग में कथाएं लिखी जायेंगी और उन्हें कोई कलियुग का ही लेखक लिखेगा[३] ..... वैसे यह कथा बिलकुल आज की है। आज के जीवन की है, उसकी विसंगतियों की है। यह विसंगतियां एकदम नयी नहीं है। अक्षौहिणी सेना को अपने ही विरुद्ध प्रयोग का अधिकार अपने विरोधी कौरवों को दे देने की परम्परा आज भी है।"[४]

---

१. Concise oxford dictionary : Reprinted fifth edition 1972 P. 1337-277.

२. `टैराकोटा` : लक्ष्मीकान्त वर्मा : पृ० ८। ३. वही : पृ० ३। ४. वही : पृ० ५।

'टैराकोटा' का कथानक तिहरा है। मूल कथा रोहित और मिति ह की है जो हस्तिनापुर के खण्डहरों से विकसित होती है। रोहित और मिति में भावनात्मक स्तर पर अभिन्नता है, परन्तु वैचारिक धरातल में दोनों की पृथक् सत्ता है। रोहित मिति में एक गृहिणी को खोजाता है, परन्तु मिति की पारिवारिक आर्थिक विवशताएँ तथा उसकी परिवार-प्रतिबद्धता उसे नौकरी की ओर खींच ले जाती है। डा० विवेकीराय मके मतानुसार मिति का संघर्ष एक साथ कई मोर्चों पर है : "पारिवारिक दरिद्रता, नारीत्व की मांग, स्वतन्त्र अस्तित्व का आग्रह, नौकरी और रोहित को समझाने में वह जूझ रही है। सारी लड़ाई परम्परित मूल्य और मुक्त वातावरण की मांग के बीच है।.... मिति के रूप में एक नये तेवर की आधुनिक नारी, एकदम क्रान्तिकारी मूल्यों के साथ चित्रित हुई है।[1] उसकी दृष्टि में नैतिकता के संकोच में डूबा रोहित कायर और असाहसी है। मिति अपने समस्त मनोवेगों के साथ जीने का अधिकार मांगती है। वह परम्परित वैवाहिक जीवन बिताने में असमर्थ है।"[2]

मिति का परिवार देहरादून में है। पिता फालिज के बीमार है। एक जमाने में उनका व्यक्तित्व बड़ा दबंग था पर परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से अब नारकीय जीवन बीता रहे थे। पुरानी परम्पराएँ एवं आदर्श उनके साम्प्रत जीवन को वेदनाग्रस्त व विषाक्त बना रहे थे। मां का आंख का आपरेशन कराने का है। विधवा बहन शोभा भी अपनी बच्चों को लेकर वहां आ गयी है। छोटी बहन ~~उमा~~ उमा और छोटे भाई राम की उचित परवरिश एवं शिक्षा-~~दि~~ दीक्षा नहीं हो पा रही है। अत: वह दिल्ली के वर्किंग गर्ल्स हास्टेल में रहकर मिस्टर खन्ना की आफिस में टाइपिस्ट-स्टेनो-सेक्रेटरी की नौकरी करती है।

रोहित-मिति की मित्रता, मिस्टर बातरा के निर्देशन में चल रहा रिहर्सल, मिस्टर खन्ना का मिति से व्यवहार, वर्किंग गर्ल्स हास्टेल का परिवेश, चालीस की उम्र में भी कुंआरी मिस बाटलीवाला, जया, लिली, शिला, मिसेज खन्ना : होटेल गेलार्ड में नीरद के डीनर में जया द्वारा आमन्त्रित होने पर मिति का यह कहना कि 'अगर मैं रोहित की पत्नी बनकर उसके लिए खाना बना सकती हूं तो क्या वह मेरी सहेली की खातिर एक डीनर में मेरा पति नहीं बन सकता'[3] आदि

---

१. देखिए : 'टैराकोटा' : पृ० १०५-१०६। २. प्रकर : संयुक्त विशेषांक, मई-जून १९७२ : पृ० ४३। ३. 'टैराकोटा' : पृ० ८१।

घटनाएं एवं पात्र महानगरीय जीवन के विभिन्न स्तरों को रूपायित करते हैं।

माँ की बीमारी के हाल सुनकर मिति देहरादून जाती है। यहां कस्बाई जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में घुन लगे मध्यवर्गीय जीवन की पीड़ा एवं घुटन का बड़ा ही सशक्त चित्रण लेखक कर पाया है। मां को किसी प्रकार समझाकर शोभा का पुनर्विवाह वह प्रकाश से करा देती है। प्रकाश उस परिवार का हमदर्द तथा एक आदर्शवादी एवं उदारहृदय युवक है। यहां हमें सर्वप्रथम विदित होता है कि मिति दिल्ली में आई० ए० एस० का करती रही है। वह उसमें उत्तीर्ण हो जाती है। यहां से इस मूल कथा में एक मोड़ आता है। मिसेज खन्ना आत्महत्या कर लेती है। मि० खन्ना विक्षिप्त हो जाते हैं। मिति के प्रयत्नों से ठीक हो रहे थे पर अन्तत: एक दिन अस्पताल से भाग जाते हैं। रोहित मिति तथा खन्ना को लेकर शंकित और इसलि इसलिए मिति से थोड़ा खींचा हुआ-सा रहने लगता है। मिति अपनी परिस्थितियों से विवश है। उस पर मि० खन्ना के दो बच्चों -- विकी और सिमी -- का दायित्व भी वह अपने सिर ले लेती है। अत: वह रोहित को शीला के सुपुर्द कर इलाहाबाद ट्रेनिंग में चली जाती है।

इसके बाद बारह वर्षों का अन्तराल है। मिति अविवाहित जीवन बिताते हुए कमिश्नर की ऊँची कुरसी पर पहुँच गयी है। उमा डाक्टर तथा राम एंजीनियर हो गये हैं। मिति के पिता की बीमारी कुछ-कुछ ठीक हुई है। मां को अब दिखने लगा है। उमा की शादी उसके ही सहाध्यायी डॉ० नरेश से हो रही है। रोहित-शीला आदि सभी निमंत्रित हैं। मिति उमा को 'ट्रेडिशनल ब्राइड' के रूप में देखने के लिए अति उत्साह से काम कर रही है। अपनी वांछित अपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति वह उमा में करती है। पर शादी के समय उसे दौरा पड़ता है और बिदा के समय अचानक नदारद हो जाकर आगे के दूसरे स्टेशन पर नव-दम्पति को बिदा देने पहुँचती है। शायद वह खुलकर रोना चाहती है परन्तु रोहित की उपस्थिति के कारण असफल रहती है।

इस मूल कथा के समानान्तर महाभारतोत्तर शान्तिपर्व के पात्रों को लेकर कृत्वि ऋतुमिता और रोहिताश्व की कथा चलती है जो अनेक सन्दर्भों में मूल कथा से साम्य रखती है।* इस प्रकार आज के सन्दर्भों में मानवीय दृष्टि से देखी गयी वह

यह पौराणिक कहानी कहीं फैन्टेसी के रूप में, कहीं समानान्तर कथा के रूप में विकसित होती है।[1] गणेशजी के कथनानुसार महाभारत की कहानी दिव्य दृष्टि से देखी गयी है जबकि बीसवीं शताब्दी की कहानी में मानवीय दृष्टि की पूरी चौकसी एवं छानबीन है।[2] इसमें घटना-संघटन के लिए लेखक ने कहीं कहीं नाट्य-शैली का सहारा लिया है[3] और पांचवे परिच्छेद में तो यह कथा सम्पूर्णतया नाटक-रूप में प्रस्तुत की गई है, गोकि वहां भी लेखक इस नाटक के उमा द्वारा पढ़ने का संकेत देते हुए उसे तार्किकता प्रदान करता है।

रोहित-मिति और रोहिताश्व-ऋतुम्भिता के अतिरिक्त एक तीसरी समानान्तर कथा गणेश-व्यास की है। ये लोग एक दर्जन बार उपन्यास के मंच पर अवतरित होकर कथा के नये सन्दर्भों, घटनाओं के घात-प्रतिघातों तथा पात्रों की प्रकृति एवं नियति के बारे में वाद-विवाद करते दृष्टिगोचर होते हैं। कथा की यह टैक्नीक दूसरे सन्दर्भ में अमृतलाल नागर कृत 'अमृत और विष' उपन्यास में उपलब्ध होती है। वहां कथा-नायक अरविन्दशंकर एक उपन्यासकार है जो बीच बीच में प्रकट कथा एवं पात्रों के भावी मोड़ों पर विचार-विमर्श करता है। इस प्रकार कथा का यह नाट्यात्मक रूपबन्ध बहुत अंशों तक आकर्षक एवं रोचक बन पड़ा है।

प्रस्तुत उपन्यास आधुनिक शिक्षित नारी की अभिशप्त नियति को उसकी सारी रिक्तता और तिक्तता के साथ उभार सका है। उषा प्रियंवदा कृत 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' की सुषमा जहां पूर्णतया टूटी हुई प्रतीत होती है वहां मिति भीतर से कुछ टूटी है, पर साथ ही अनेकों को बनाने का अहसास उसके व्यक्तित्व को दृढ़ आधार प्रदान करता है। डॉ० विवेकीराय के शब्दों में 'मूल्यहीनता और मूल्यानुसंक्रमण की इस बीसवीं शताब्दी में महानगरीय बोध के बीच जीती एक सुशिक्षित युवा नारी के भीतर परिवार की यह प्रतिबद्धता, पारिवारिक मूल्यों के लिए वैयक्तिक मूल्यों की बलि देने की आस्था संहिति और आत्मानुशासन की स्थिति विचित्र है किन्तु अप्रामाणिक नहीं है।'[4]

---

१. डॉ० विवेकीराय : प्रकर, संयुक्त विशेषांक, मई-जून : पृ० ४३। २. देखिए : 'टेराकोटा' : पृ० १६। ३. देखिए : वही : पृ० १६३ से १७२। ४. प्रकर : संयुक्त विशेषांक, मई-जून : पृ० ४३।

उपन्यास में प्रयुक्त पौराणिक सन्दर्भ साधार हैं। पंच कन्याओं में तारा एवं मंदोदरी के पुनर्विवाह की पुष्टि प्राचीन ग्रन्थों से हो जाती है[1] जिसका उल्लेख मिति की विधवा बहन शोभा के पुनर्विवाह के सन्दर्भ में किया गया है।

अस्तु, वर्माजी का यह उपन्यास वस्तु एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से एक विशिष्ट एवं अभिनव प्रयोग है जिसमें आधुनिक महानगरीय जीवन की विडम्बनाओं तथा विसंगतियों का दिग्दर्शन लेखकीय तटस्थता, अनुभव की निजता तथा परिवेश की सत्यता के साथ हुआ है।

लौटती लहरों की बांसुरी (१९६४)

'लौटती लहरों की बांसुरी' सुपरिचित प्रयोगवादी कवि भारतभूषण अग्रवाल का दिवा-स्वप्न की शैली में लिखा गया एक प्रयोगधर्मी उपन्यास है। दिवा-स्वप्न शैली चेतना प्रवाह शैली का ही एक अंग है। इसमें उपन्यासकार ने तैंतालीस दिवा-स्वप्नों द्वारा नायक के अतीत -जीवन के तानों-बानों को बुनते हुए कथा-पट का निर्माण किया है।

उपन्यास का नायक अशोक कवि है, जिसके चित्रण में स्वाभाविकता का निर्वाह भली भांति हो सका है। अशोक के पिता समाज तथा परिवार के दल-फन्द में रसे-बसे एक व्यवहारपटु पुरुष है। अत: उन्हें अशोक का कवि होना 'सुपरमैन' नहीं बल्कि खुराफ़ाती लगता है। शादी करो और काम ढूंढो कहने वाले पिता से उसे घृणा है। अत: वह घर छोड़ कलकत्ता चला आता है। वहां घोषबाबू नामक एक बंगाली सज्जन से वह परिचित होता है। घोषबाबू अशोक की काम के प्रति लगन देखकर अत्यन्त प्रभावित होते हैं और उसे अपने बेटे की तरह रखते हैं। परन्तु वह भावुक है अत: कई बार छोटी-छोटी बातें भी उसे स्पर्श कर जाती हैं और वह मन ही मन दु:खी रहने लगता है। मिस अमिता घोष नामक एक अनिंद्य सुन्दरी के कारण घोष-बाबू तथा अशोक के सम्बन्धों में भी तनाव आता है। घोषबाबू को उसके केरियर की चिन्ता थी, अत: वे उसे अमिता से कुछ दिन दूर रहने की सलाह देते हैं परन्तु उनकी सलाह की उपेक्षा कर वह उसके विचारों में इतना निमग्न हो जाता है कि परीक्षा में थर्ड क्लास पाता है।

---

१. देखिए : प्राचीन चरित्र कोश (१९६४) : सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव : पृ० ८३१।

थर्ड डिविज़न आने के साथ ही आई० ए० एस० होने और अमिता को पाने के उसके स्वप्न भी हवा हो जाते हैं। शरीर, रूप, आर्थिक स्थिति से उत्पन्न सामाजिक प्रतिष्ठा आदि सभी के लिहाज से वह अपने को अमिता के समक्ष हीन समझता है। इसी हीनता-ग्रन्थि से उद्भूत प्रभुत्व-कामना की भावना से वह अमिता से ऊंचा उठने के लिए कलकत्ते में खेमकाजी के साप्ताहिक पत्र 'देश सेवक' में भूत की तरह काम करता है और आर्थिक दृष्टि से कुछ संपन्न भी होता है। जिस भावना से प्रेरित होकर 'मछली मरी हुई' का निर्मल पद्मावत 'कल्याणी मेन्शन' नामक तीस मंजिला 'स्काय स्क्रैपर' खड़ा कर देता है, वही भावना अशोक को आर्थिक रूप से ऊपर ~~उठाने में~~ ऊपर उठने के लिए प्रेरित करती है। परन्तु 'काव्य-संग्रह' के समर्पण से सम्बन्धित विवाद के कारण घोषबाबू और उसके सम्बन्धों का तनाव चरम अवस्था पर पहुंच जाता है और वह अन्तत: कलकत्ता भी छोड़ देता है।

डॉ० जुंग के व्यक्तित्व विभाजन के अनुसार कवि लोग 'अन्तर्मुखी भावुक' की कोटि में आते हैं।[१] ऐसे लोग स्वभावत: दु:खी रहने वाले तथा व्यर्थ की पीड़ाओं को ओढ़ने वाले होते हैं। उनकी इन पीड़ाओं का प्रस्फुटन उनकी कविताओं में होता ~~है~~ रहता है। अशोक भी अमिता की अप्राप्ति से उत्पन्न पीड़ा को 'पथ विहिन'[२] तथा दर्द का टीका'[३] नामक कविताओं में शब्द-रूप प्रदान करता है। उसका अचेतन अमिता को चाहता है परन्तु वह अपनी भावना को कभी प्रकट रूप नहीं दे पाता। वह अपनी गाढ़ी कमाई को सिनेमा देखने में इसलिए खर्च करता है कि फिल्म खत्म होने पर वह हाल से निकलती हुई अमिता के सामने पड़ जाय और फिल्म के सिलसिले में कुछ बातचीत करते हुए उसका कुछ सानिध्य लाभ हो।[४] विमलेन्दु की ट्यूशन भी वह इसलिए करता है। किन्तु प्रकट रूप में वह इस प्रणय-भावना का विरोध करता है। 'मिस घोष तुम पर फिदा है' कहने वाले रणवीर सक्सेना पर वह उबल पड़ता है। 'तुम अमिता को प्यार करते हो' कहने वाले ज्याग्राफी के टीचर को वह कुत्ता कहता है तथा अमिता की चर्चा छेड़ने वाले अपने घनिष्ठ मित्र तक को डांट देता है। इन सारी

---

१. 'सरल मनोविज्ञान' : लालजी राम शुक्ल : पृ० ३४४। २. 'लौटती लहरों की बांसुरी' : डॉ० भारतभूषण अग्रवाल : पृ० ८३। ३. वही : पृ० १५१।
४. वही : पृ० ४४।

क्रियाओं के पीछे उसका चेतन मन सोचता है कि उसका प्रेम सड़क पर बंटने वाला हैण्डबिल न बने ।[१] किन्तु उसके इस जस्टिफिकेशन के मूल में उसके स्वभाव की भीरुता, हीनता बोध की भावना और अन्तर्मुखता ही कारणभूत है । उसके स्थान पर कोई बहिर्मुखी प्रकृति का व्यक्ति होता तो न केवल इन प्रसंगों में रस लेता बल्कि उनमें कुछ रंग भी भरता ।

ऐसे लोग प्राय: समाज तथा परिवार से कटकर रहने वाले, अव्यवहारू तथा जिद्दी होते हैं तथा अपनी ऐसी प्रकृति के कारण लोगों से समझौता कर पाने में असमर्थ होने से दर-ब-दर की ठोकरें खाते हैं । अशोक के साथ भी यही होता है ।

इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास की कहानी एक सामान्य कोटि की प्रेमकथा मात्र है । सारा उपन्यास लिजलिजा टाईप कालेज के रोमाण्टिक वातावरण से भरा पड़ा है और प्रेम का कोई उदात्त या नया पहलू भी सामने नहीं आता, परन्तु उसका अत्याधुनिक कथा-विन्यास उसे हिन्दी के सफल लघु-उपन्यासों में पंक्तिबद्ध करता है । रूपाकर्षण से उत्पन्न ~~अपरिपक्वता के कारण~~ अपरिपक्व भावुकता के कारण होने वाले मानसिक घात-प्रतिघातों या मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का सटीक चित्रण है, जिसमें नायक अपनी ही निर्बलता से सानिध्य-लाभ में असफल होकर झुंझला उठता है । परन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में विश्लेषण की जो सूक्ष्मता और गहराई होनी चाहिए , जो हमें जैनेन्द्र या अज्ञेय में मिलती है , उसका यहां कुछ अभाव-सा प्रतीत होता है ।

अनदेखे अनजान पुल (१९६३)

लेखकीय प्रतिबद्धता, सन्नद्धता एवं ईमानदारी को अधिक महत्व देने वाले राजेन्द्र यादव नयी पीढ़ी के उन लेखकों में हैं जिनमें लिखने की जद्दोजहद जीवन के एक अभिन्न पक्ष के रूप में उपलब्ध होती है । मोहन राकेश के शब्दों में " अपने लेखन में यह आदमी निरन्तर जूझता और प्रयोग करता चल रहा है । लिखने के सिवा और किसी रूप में यह ज़िन्दगी की बात सोचता ही नहीं ।.... हमेशा नये-नये प्रयोग करने

---

१. ' लौटती लहरों की बांसुरी ' : पृ० ७८ ।

की उसकी कामना ही इस बात की गवाह है कि वह जो लिख लेता है उससे संतुष्ट कभी नहीं होता ।.... वह एक बना हुआ लेखक नहीं, बनता हुआ लेखक है और यही उसकी सफलता का रहस्य भी है। बना हुआ लेखक अपने संस्कार के एक पिच से लिखना आरम्भ करता है और जीवन-भर या वहीं बना रहता है, या निरन्तर उस पिच से नीचे उतरता आता है। अपने कृतित्व को लेकर उसके मन में शंका नहीं होती,इसलिए उसकी हर नयी रचना नया प्रयोग न होकर पहली रचना की ही काण्टीन्यूटी होती है। .... उनके प्रयोगों में उत्तरोत्तर प्रगति नहीं होती, क्योंकि अधूरेपन का अहसास (उन्हें) कभी नहीं सताता। मगर मेरा यह दोस्त क्योंकि अहसास का ही मारा हुआ है, इसलिए उसका लेखन निरन्तर परिमार्जित हुआ है और होता जा रहा है।"[1] ,पैत बोलते हैं', 'उखड़े हुए लोग', 'कुलटा', तथा 'शह और मात' के बाद यादव की प्रस्तुत रचना 'अनदेखे अनजान पुल' भी मोहन राकेश के उक्त मत की पुष्टि करनेवाली एक सशक्त रचना है।

स्वयं लेखक के अनुसार उसकी नायिका निन्नी का सृजन सत्यानुभूति पर आधारित है। भारत सरकार के किसी उच्च उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर आसीन एक युवती पर्वत-प्रवास के दौरान लेखक को मिली थी। उसने अपनी यह राम कहानी लेखक को इसी शर्त पर सुनायी थी कि उपन्यास की नायिका का नाम निन्नी ही रखा जाय तथा कहानी को तृतीय पुरुष में ही लिखा जाय। "दो आग्रह से पाठक सहमत हो न हो, इतना अवश्य है कि कहानी का कोण एकदम नया है।"[2]

निन्नी के माध्यम से इसमें लेखक ने एक अनछुयी समस्या को उजागर किया है। निन्नी एक निहायत सामान्य-सी दीखने वाली काली-कलूटी कुरूपा लड़की है। उसके पिता मध्यम वर्ग के सामान्य हैसियत वाले व्यक्ति हैं, अतः ऐसी लड़की खपाने के लिए वह बड़ी रकम दहेज में दे नहीं सकते। अतः रूपहीनता की दुर्भाग्यपूर्ण

---

१. मोहन राकेश : मेरा हमदम मेरा दोस्त : पृ० २८-२९। २. 'अनदेखे अनजान पुल' : पृ० ५।

नियति से जुड़ी हुई निम्मी न किसी की पत्नी ही बन सकती है न प्रेयसी ही ।

उसके अन्य भाई-बहन कुरूप नहीं है । फलत: शैशवकाल से ही लघुता-ग्रन्थि का बीज उसकी मानस-भूमि में पड़ जाता है । समाज एवं परिवेश से प्राप्त उपेक्षा एवं कटुता उसमें जल और खाद देने का कार्य करते हैं । कालेज में 'कल्लोपरी'[1] के नाम से लोग उसे चिढ़ाते हैं । अपनी इस कुरूपता को दूर करने की वह हर संभव कोशिश करती है, परन्तु अन्तमें थक-हार कर मन से अंगीकार कर लेती है कि इस दुनिया में उसकी कोई उपयोगिता नहीं है । 'न वह सांवरी थी न मीरा : न शबरी न अहल्या : बस दु:खी हताश, थकी-मांदी, टूटी-फूटी आत्मा थी, जो शान्ति मांगती थी ।'[2]

बैजल और सागर से उसे पुरुष-स्पर्श का अनुभव होता है -- एक से अनजाने में दूसरे से जान-बूझकर । किसी रिश्तेदार के यहां शादी में सन्ध्या नामक युवती पर बैजल मर मिटता है । सन्ध्या की साड़ी खराब न हो इसलिए म्यानी से पत्तल निकालने जाती है तब अंधेरे में बैजल उसे सन्ध्या के धोखे में अपने बाहुपाश में लेकर उद्दाम चुम्बनों से नवाजता है । इस अनुभव से सौन्दर्यहीनता के कारण उठाने पड़ते हानि-बोध से वह परिचित होती है जिससे उसकी छटपटाहट एवं मानसिक यन्त्रणा अनेकगुना बढ़ जाती है । चौपाड़ खेलने के बहाने सागर उसके शरीर के विभिन्न अंगों को जब-तब छू लेता है । सागर उसके पड़ोस में रहने वाले त्रिपाठीजी का भतीजा था । स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की जानकारी उसे सागर ने ही दी थी । इस सम्बन्ध में वह सस्ती बाजारू किताबों को भी मनोयोग से पढ़ती है । सागर के लिए वह केवल मन-बहलाव का उपकरण मात्र थी । उसके व्यवहार से प्रेरित होकर जब निम्मी उससे क्रीम की शीशी लाने का अनुरोध करती है तब वह 'छछूंदर के सिर में चमेली का तेल'[3] कहकर उसका क्रूर उपहास करता है ।

बैजल और सागर के स्पर्श से जहां उसे पुरुष-स्पर्श की उष्मा का अनुभव होता है, वहां उसमें अनेक कुत्सित विकृतियां भी पैदा होती हैं । अब वह पुरुष-

---

१. अनदेखे अनजान पुल : पृ० ९८ । २. वही : पृ० १२५ । ३. वही : पृ० १९८ ।

स्पर्श प्राप्त करने की नयी तरकीबें ढूंढती रहती है। वह जान-बूझकर भीड़ में जाना पसंद करती है। वह अपने भाई के साथ दिल्ली में नुमाइश देखने इसलिए जाती है कि उसने सुन रखा था कि दिल्ली की बसों में लोग खूब शैतानियाँ करते हैं।

किसी कारणवश उसका भाई नुमाइश देखने जाते समय घर नहीं लौट सकते, तब वह उसके चित्रकार मित्र दर्शन के साथ चल पड़ती है। दर्शन का सहज खुला व्यवहार उसमें एक मकड़े के जाल-सा स्वप्न फैलाता है। परन्तु रात में यह जानकर कि वह किसी और का है उसके स्वप्नों का महल ढह जाता है। अन्तमें चारों तरफ से उपेक्षित होकर वह आत्महत्या द्वारा जीवन का अन्त करने के विचारों में खो जाती है। कड़ाके की सर्दी में साधारण सूती कपड़ों में कालेज जाकर डबल निमोनिया को आमन्त्रित करना एक प्रकार से आत्महत्या का ही प्रयत्न है। उसका यह हीनता-बोध उसके जीवन को समाप्त कर देता परन्तु उसी समय दर्शन पुन: उसे मिलता है और एक नये सौन्दर्य-बोध से उसे परिचित कराकर उसमें जीवन के प्रति आस्था जगाता है। "अनुपात सुन्दरता नहीं है, अनुपात के पीछे से उद्भाषित होने वाला प्राण, प्रसन्न उत्साह और आस्था ही ~~सौ~~ सौन्दर्य है..... मगर निन्नी, यह तुम्हारा नहीं, हम सबकी ट्रैजडी है कि हम सुन्दरता के उपादानों को ही सुन्दर समझते हैं.... मानते हैं कि ढले-ढलाए अवयव... नाक-नक्श ही सुन्दर है।"[1]

इस प्रकार सौन्दर्य-विषयक नयी दृष्टि प्रदान कर दर्शन चलते-चलते निन्नी के पपड़ाए सूखे होठों को चूमता है। मानवीय संवेदना से युक्त यह चुम्बन निन्नी में नवीन भावोन्मेष एवं आत्मविश्वास को जागृत करता है और वह पढ़-लिखकर भारत-सरकार में एक उच्च पद को प्राप्त कर लेती है। मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो निन्नी की लघुता-ग्रन्थि का शमन प्रभुत्व-ग्रन्थि द्वारा ही हो सकता था और लेखक ने वही किया है। परन्तु यह अन्तिम समापन कुछ फार्मूलाबद्ध-सा लगता है। केवल दर्शन के समझाने मात्र से उस पर जादू-सा असर होता है, यह बात कुछ जमती नहीं है। अच्छा होता यदि लेखक यही बात किसी प्रभावशाली घटना के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करता।

कथ्य, भाषा एवं संयोजन की दृटि से यह यादवजी का एक श्रेष्ठ लघु-उपन्यास है। इसमें उन्होंने निश्चय ही एक नवीन समस्या को उठाया है। डॉ० घनश्याम मधुप के शब्दों में "संवेदनशीलता लघु-उपन्यास का अपना विशेष गुण है

---

१. ~~हिन्दी लघु-उपन्यास : पृ० १२६-१३०।~~ 'अनदेखे अनजान पुल' : पृ० १४८।

और यह विशेषता इस कृति में है। वास्तव में निम्मी की कहानी एक अति सामान्य लड़की की कहानी है ही है जो अपने मन की गहराइयों से अपने पार जाने के लिए पुल की खोज में है। यह पुल वह स्वयं है और इसका अहसास ही दर्शन है।'[१]

चारु-चन्द्रलेख (१९६३)

पूर्ववर्ती विवेचन में निर्दिष्ट किया जा चुका है है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, बंगला प्रभृति भाषाओं के ज्ञाता तथा साहित्य कला, दर्शन तथा नाना शास्त्रों के महान् पण्डित कवि-आलोचक डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। 'कवि-आलोचक' शब्द का जान-बूझकर प्रयोग किया गया है। आचार्य द्वारा प्रणीत कोई भी साहित्यिक विधा कविता तत्व से रहित नहीं होती : चाहे वह निबन्ध हो, चाहे आलोचना, चाहे गप्प[२] (उपन्यास)। उनका प्रस्तुत उपन्यास भी इसी बात को प्रमाणित करता है।

द्विवेदी जी ऐतिहासिक उपन्यास ही नहीं इतिहास विषयक यह मनोधारणा भी पुष्ट करते हैं कि इतिहास महज किसी काल-विशेष के राजा-रानियों की तथा उनके युद्धों की कहानी नहीं है : प्रत्युत उस युग के जन-जीवन की जीती-जागती तस्वीर है। इस अर्थ में 'चारु-चन्द्रलेख' १२ वीं शताब्दी के मध्यकालीन भारत का मानक दर्पण है। समूचा युग उसमें बोल उठा है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' जब प्रकाशित हुआ तब इस क्षेत्र में वह 'एकमेवाद्वितीयम्' प्रतीत होता था, परन्तु 'चारु-चन्द्रलेख' से यह प्रतीति होती है कि यह 'द्वितीयमेवाद्वितीयम्' सिद्ध होगा।[३] 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भांति 'चारु-चन्द्रलेख' को भी राजा सातवाहन की आत्मकथा वाली शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसमें भी प्रथम उपन्यास की भांति 'कथामुख' और 'उपसंहार'

---

१. 'हिन्दी लघु-उपन्यास' : पृ० १२६-१२७। २. 'द्विवेदी जी बातचीत में कहा करते हैं कि वे उपन्यास नहीं गप्प लिखते हैं। गप्प उपन्यास की तरह नियन्त्रित हो यह आवश्यक नहीं : वह तो अपने ढंग से अपनी बात कह देता है।' : डॉ० राम दरश मिश्र : 'हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा' : पृ० ८८१। द्रष्टव्य : डॉ० शिवनाथ : आलोचना-३३, जून- १९६५ : पृ० २३२।

दिया गया है, जिसमें यह प्रतिपादित करने का प्रयास है कि कथा का यह अंश पण्डित व्योमकेश शास्त्री को अघोरनाथ के द्वारा प्राप्त हुआ है। अघोरनाथ जो एक औघड़ साधु बताए गए हैं, उनको यह कथा ब्रह्मपुत्र के उतार पर चन्द्रद्वीप नामक उपत्यका में स्थित चन्द्रगुहा के पिछले हिस्से में 'उट्टंकित वृत्त' के रूप में मिली थी।[१] वस्तुत: द्विवेदी जी में अवस्थित 'महा पण्डित' ही व्योमकेश शास्त्री हैं और उनके भीतर का कलाकार ही अघोरनाथ है।

उपन्यास के मुख्य कथा-सूत्रों में सातवाहन तथा चन्द्रलेखा का आकस्मिक मिलन : दोनों का परिणय-सूत्र में बंधना : चन्द्रलेखा द्वारा सातवाहन तथा प्रजा में नवोन्मेष का उद्भूत होना : जगत के कल्याण की भावना से चन्द्रलेखा का नागनाथ के साथ महासिद्धि-रस (कोटि-सिद्ध रस) की प्राप्ति हेतु साधना के अनेकानेक बीहड़, भयंकर एवं कण्टकाकीर्ण पथों का अन्वेषण करते हुए भटक जाना : चन्द्रलेखा को पुन: सामान्य बनाने के लिए अमोघवज्र तथा भगवती विष्णुप्रिया का उसे नाटीमाता (कारु नटी) के पास छोड़ जाना : मैनसिंह (नाटी माता की पालक पुत्री मैना) द्वारा सातवाहन तथा चन्द्रलेखा का पुनर्मिलन : सातवाहन पर मैनसिंह के रहस्य का खुल जाना : दिल्ली के सुल्तान के पिट्ठू घुण्डकेश्वर का आक्रमण : मैना, अलहना तथा राजा का अतुल पराक्रम : अलहना का वीर गति प्राप्त करना : विद्याधर भट्ट की कूटनीति के कारण चन्द्रलेखा का राजा से पुन: विलग होना : राजा द्वारा चन्द्रलेखा को मृत समझ लेना : प्रजा तथा सैन्य में चन्द्रलेखा के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारिक घटनाओं का फैलना : मैना के अनेक पराक्रम : राजा का सीदी मौला, अमोघवज्र, अक्षोभ्य भैरव तथा अशोक चल्ल आदि को मिलना : विद्याधर भट्ट तथा रानी चन्द्रलेखा द्वारा साधु-सेना को संगठित करना : मैना द्वारा अटवी सेना दल की रचना करना तथा राजा के मि मित्र शाह को दिल्ली के सुल्तान की कैद से छुड़ाना : राजा तथा चन्द्रलेखा का पुन: मिलना आदि हैं।

उपन्यास के प्रत्येक पृष्ठ से तथा अन्त में दिए गए परिशिष्ट से विद्वान् लेखक का अध्यवसाय प्रमाणित होता है। प्राचीन साहित्य एवं शास्त्रों के नाना ग्रन्थों

---

१. द्रष्टव्य : 'चारु-चन्द्रलेख' : कथामुख : पृ० ७-८ ।

का दोहन करके प्रस्तुत उपन्यास की रचना की गई है। उपन्यास की रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में जिस प्रकार की 'रिसर्च' की बात प्रसिद्ध उपन्यासकार जायस कैरी ने की है[1], उसका ज्वलन्त उदाहरण हमें यहाँ मिलता है। अत: स्थूल कथा रस की अभिप्सा वाले पाठकों को इसमें निराशा हासिल हो सकती है, अन्यथा सहृदय जिज्ञासु पाठक के लिए उपन्यास आद्यन्त रोचक है।

उपन्यास की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में लेखक ने उपसंहार में लिखा है कि 'ऐतिहासिक दृष्टि से कथा में असंगति नहीं है। ऐसा लगता है कि किसी ने सोच-विचार कर तथ्यों को इनमें पिरोया है। फिर भी उज्जयिनी के राजा सातवाहन का कोई प्रमाण नहीं है।'[2] द्विवेदी जी का यह कथन समीचीन है। सातवाहन वंश का नाम तो अवश्य मिलता है, किन्तु सातवाहन राजा का नाम नहीं मिलता। इसलिए बड़ी पटुता के साथ उपन्यास के आरम्भ में ही चन्द्रलेखा के द्वारा 'सातवाहन' शब्द की व्याख्या करा दी गई है।[3] चन्द्रलेखा, गोरखनाथ, नागनाथ, जल्हण, कार्तिकी, घुण्डकेश्वर, अशोक चल्ल, (अशोक चन्द्र), अमोघवज्र, अक्षोभ्य भैरव, सीदी मौला, विद्याधर भट्ट, धीर शर्मा आदि के नाम तो इतिहास में कहीं न कहीं मिल जाते हैं किन्तु बोधा प्रधान, अलहना, मैना, मंभल आदि काल्पनिक पात्र हैं।

यहां एक बात ध्यातव्य है कि प्रस्तुत उपन्यास के लेखन में द्विवेदी जी का का प्रधान उद्देश्य मध्यकालीन भारत का एक मानक चित्र उपस्थित कर देना मात्र है, अत: उस युग के परिवेश को सम्पूर्णतया उतारने के लिए लेखक ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म चीज़ का भी ब्यौरा दिया है। कथा यदि सातवाहन और चन्द्रलेखा की है तो संघटन की दृष्टि से कमजोर है, परन्तु यदि वह तेरहवीं शताब्दी के भारतीय जन-जीवन की कथा है तो निश्चित रूप से सशक्त है और निश्चय ही यह उस युग की कथा है। अत: हम डा० शिवनाथ के इस मत से पूर्णतया सहमत हैं कि यह उपन्यास 'मुख्यत: वाता-

---

१. "Mr. Cary explained that he was now 'Plotting' the book. There was research yet to be done. Research, he explained, was sometimes a bore, but it was necessary for getting the political and social background of his work right" : Joyas Cary : Writers at Work: First series (1958): P. 60.

२. 'चारु-चन्द्रलेख' : उपसंहार : पृ० ३७२। ३. देखिए अगले पृष्ठ पर।

वरण प्रधान उपन्यास जान पड़ता है।.... तान्त्रिक तथा कृच्छ्र साधना के वर्णन : नाथपन्थी योगियों तथा सिद्धों के आविर्भाव : प्राचीन साहित्य की उद्धरणी : प्राचीन नाना शास्त्रों, विशेषतः ज्योतिष, सामुद्रिक, शकुन विद्या आदि के उल्लेख उपन्यास को मध्ययुग के वातावरण से आच्छादित किए रहते हैं।"[1]

एक प्रकार से 'चारु-चन्द्रलेख' भारतवर्ष की पराधीनता की पृष्ठभूमि को चित्रित करता है। इसमें द्विवेदी जी ने यह बताने का प्रयास किया है कि भारत जब विदेशियों द्वारा पादाक्रान्त हो रहा था तब देश की प्राण-शक्ति मन्त्र-तन्त्र, भूत-वैताल, डाकिनी-शाकिनी, ऋद्धि-सिद्धि, सुन्दरी-साधना, मोहन और उच्चाटन में लोप हो रही थी। कोटि-कोटि मनुष्यों को रोग, शोक, मोह और पराधीनता से मुक्त करने के लिए समाज की नव व्यवस्था के स्थान पर अभ्रक और पारद के खरल-संयोग से उत्पन्न कोटि-वेधी-रस की तलाश की जा रही थी। अतः उसके प्रत्येक पृष्ठ से आह्वान का स्वर गुंजित होता है। सीदी मौला, गोरक्षनाथ, अक्षोभ्य भैरव प्रभृति पात्रों के मुंह से लेखक ने एकाधिक बार कहलवाया है कि व्यक्तिगत सिद्धियां बाहरी विदेशी आक्रमणकारियों के सम्मुख व्यर्थ सिद्ध होती हैं। संगठित संघ-शक्ति ही वहां काम आ सकती है। गुरु गोरक्षनाथ एक स्थान पर अमोघवज्र को कहते हैं कि "सारे जगत को भूलकर अपनी मुक्ति की चिन्ता करना सबसे बड़ी माया है।.... (आप) जलते हुए शस्य-क्षेत्रों की उपेक्षा नहीं कर सकते, टूटते हुए मन्दिरों से आंख नहीं मूंद सकते, ललकते हुए शिशुओं और घिघियाते हुए वृद्धों की ओर से कान नहीं बन्द कर सकते। आप संगठित होकर ही संगठित अत्याचार का विरोध कर सकते हैं। यह सुन्दरी-साधना, यह महाचीनाचार, यह चक्र पूजा, यह महाविद्यासिद्धि आप को नहीं बचा सकती।.... जिस दिन वज्रेश्वरी विहार पर एक सहस्त्र विदेशी सैनिकों ने 'दीन-दीन' कहकर हमला किया, उस दिन फेरुक (फेरुक वज्र- एक महासिद्ध) की विद्या न जाने कहां लुप्त हो गई। वशीकरण और मोहन की दुरन्त कला एक

पिछले पृष्ठ से :" देवी, मेरा नाम सातवाहन नहीं है।.... हमारे गाँव में सब घुड़सवार सातवाहन कहे जाते हैं। 'सात' हम लोग घोड़े को कहते हैं। तुम सातवाहन नहीं तो और क्या हो?" : चारु-चन्द्रलेख : पृ० १७।

१. आलोचना-३३ : जून-१९६५ : पृ० २३५।

एक सहस्त्र चित्तों के मिलित जयोन्माद को रत्ती-भर भी इधर-उधर नहीं मोड़ सकी।"[1]

इसमें द्विवेदी जी ने हमारे पराजय के कारणों को विश्लेषित करते हुए बताया है कि शास्त्र शास्त्र, रूढ़ि और परम्परा के आदेश काल-सापेक्ष हैं: अत: उनमें समय-समय पर अन्वेषण होते रहना चाहिए। गुप्त सम्राटों ने सदा पुराने शास्त्रों को नयी परिस्थितियों के अनुसार संशोधित करनेका प्रयत्न किया था।[2] मौल, भृतक, मित्र और श्रेणी-भेद वाली पुरानी रणनीति अब काम नहीं आ सकती।[3] दलवंगुर महाराज जयित्रचन्द्र की सारी मौल सेना हाथी का दांत ही सिद्ध हुई।[4]

अक्षोभ्य भैरव राजा सातवाहन कोसंबोधित करते हुए कहते हैं -- "मूर्ख राजाओं और चाटुकार पण्डितों ने अरि का अर्थ ही शत्रु हो जाने दिया है। कभी पड़ोसी राजा को 'अरि' कहा जाता था, मित्र वह होता था जो पड़ोसी का पड़ोसी हो। किसी समय ऐसा विचार ठीक रहा होगा। परन्तु अभी जो तुरूष्क आए हैं, वे सबके शत्रु हैं।... अरि का अरि होकर भी तुरूष्क मित्र नहीं बनेगा। गांठ बांध लो इस बात को। मैं कान्यकुब्ज का उच्छेद देख चुका हूं, गौड़ का पराभव देख चुका हूं, चौहानों का मर्दन सुन चुका हूं, चन्देलों की पराजय की कहानी सुन चुका हूं। मित्र-सेना के नाम पर गाहड़वारों का तुरूष्कों को निमन्त्रित करना कितनी बड़ी भूल थी।... और देख सातवाहन, शुक्र और कामन्दक की रणनीति में परिवर्तन की आवश्यकता है।... हिमालय सेके उस पार से आने वाली सेना उन बन्धनों को नहीं मानती। भटिंडा की लड़ाई में राजपुत्रों की मौल सेना सूर्योदय में ही लड़ने को बाध्य हुई: कल्यपाल सोये हुए थे, कलेऊ नहीं मिला: अपराह्न तक लड़ते-लड़ते वे क्लान्त हो गए: लड़ते-लड़ते खा नहीं सकते थे: हजार बाधाएं थीं: चौका नहीं था: अस्पृश्य से स्पर्श का बचाव नहीं था: घोड़ों के मांस से काम नहीं चला सकते थे: शत्रु की मार से नहीं, पेट की मार से महरा गए।"[5]

ऐसे तो अनेक उदाहरण मिलते हैं। बहुत से कथन तो हमारी वर्तमान स्थिति पर हूबहू चस्पां होते हैं। उपसंहार में लेखक ने कुछ चमत्कारिक घटनाओं के वैज्ञानिक बोध का भी परिचय दिया है। संक्षेप में 'चारु-चन्द्रलेख' भारतीय इतिहास के उन काले पृष्ठों की कथा है जब भारतवर्ष राजपूतों के झूठे अहंवाद, शास्त्रों एवं परम्पराओं का अन्धानुकरण, व्यक्तिगत साधना-मार्ग के तन्त्र-मन्त्र और अन्ध मान्यताओं के कारण विदेशियों द्वारा पराजित होता जा रहा था।

---

१. 'चारु-चन्द्रलेख': पृ. १३८-२४०-२४२। २. वही: पृ. ३४५। ३. वही: पृ. ३४६। ४. वही: पृ. ३४७। ५. वही: पृ. ३४७-४८)

अपने अपने अजनबी (१९६१)

हिन्दी कथा-साहित्य में निजी शिल्प सजगता को लेकर अज्ञेय अप्रतिम है। उनके तीन उपन्यास प्राय: दस-दस साल के अन्तराल से आये हैं, परन्तु उनमें से प्रत्येक ने शिल्प के नये आयामों की सम्भावना को बढ़ा दिया है और हिन्दी कथा-साहित्य में नयी ज़मीन को तोड़ा है। अज्ञेय-साहित्य में एक स्पष्ट अन्तर्विरोध यह भी मिलता है कि अज्ञेय की दार्शनिक मुद्रा व पाश्चात्य साहित्य के प्रभावों का आकलन जितना उपन्यासों में उपलब्ध होता है उतना कविता में नहीं। वहाँ पर उनका तद्भव ठेठ और भारतीय रूप ही प्राय: मिलता है। 'अपने अपने अजनबी' की समानान्तर कृति 'आँगन के पार द्वार' को उदाहरणस्वरूप ले सकते हैं।[१] उनके ललित निबन्धों (कुट्टीचातन के नाम से लिखित) में उनके विस्तृत ज्ञान का पता चलता है।

पिछली दो रचनाओं की भाँति यह कृति भी हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में बहुचर्चित और दो भिन्न-भिन्न छोरों पर रही है। जहाँ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय जैसे आलोचक 'हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियाँ' में इसका उल्लेख तक नहीं करते, वहाँ डॉ० इन्द्रनाथ मदान, डॉ० बच्चनसिंह, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे आलोचक इसे हिन्दी उपन्यास की एक उपलब्धि मानते हैं। डॉ० हेमचन्द्र जैन तो यहां तक लिखते हैं कि "उपन्यास में अन्तर्निहित चेतना प्राच्य और पाश्चात्य जीवन-दृष्टियों के समीकरण को आधार बना सके तो यह कहा जा सकता है कि 'कामू' के अजनबी' (The outsider) और हेमिंग्वे के 'सागर और मनुष्य' (The old man and the sea) की भाँति यह उपन्यास भी हिन्दी के प्रथम श्रेणी के उपन्यास बनने की क्षमता रखता है।"[२]

अज्ञेय के यह तीन उपन्यास क्रमश: मानव-मन की तीन मूलभूत प्रवृत्तियों --- अहं, सेक्स और भय -- से जुड़े हुए हैं। भय की भावना मृत्यु-बोध से मुख्यत: मृत्यु-बोध से सम्बद्ध है जो अस्तित्ववादी दर्शन के केन्द्र में है। अस्तित्ववादी दर्शन के कुछ संकेत तो हमें 'नदी के द्वीप' में ही मिल जाते हैं, परन्तु 'अपने अपने अजनबी'

---

१. 'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या' : डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : पृ० ११६।

२. 'आधार' : सातवां दशक मूल्यांकन विशेषांक -- फरवरी-मई, '७१ : पृ० ६० ।

तो एक प्रकार से मृत्युबोध का ही आख्यान है। उपन्यास के सभी मुख्य पात्र -- सेल्मा, योके, यान -- पूरे उपन्यास में इस मृत्यु-गन्ध से आक्रान्त हैं।

अस्तित्ववादी दर्शन का जन्म ही विगत दो-दो विश्वयुद्धों की विभीषिकाओं तथा औद्योगिकरण, शहरीकरण, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप व्यक्ति के निरन्तर अकेले होते जाने की छटपटाहट के कारण हुआ है। इस दर्शन का जितना दबाव पश्चिमी लेखकों पर है, उतना अन्यत्र नहीं : और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि मृत्यु और जीवन की अनिश्चितता का कल्पनातीत बोध उन्हें हुआ है। इसके अतिरिक्त बौद्ध-दर्शन को छोड़कर अधिकांश पौरात्य दर्शन प्रायः मृत्यु की साधारणता और अभयंकरता को ही चित्रित करते रहे हैं, क्योंकि हमारे यहां जीवन को वृत्ताकार रूप में ही लिया गया है। जबकि पश्चिम की भौतिकवादी दृष्टि में मृत्यु की भयावहता अनेकगुणित हो जाती है।

परिणामतः काफ्का, कामू तथा सार्त्र प्रभृति ने न केवल इस (मृत्यु-केन्द्री) दर्शन की मीमांसा की है, प्रत्युत अपनी कृतियों में उसे भलीभांति व्याख्यायित भी किया है। प्रस्तुत उपन्यास में अज्ञेय का भी यही प्रयत्न रहा है। वैसे सेल्मा, यान तथा जगन्नाथ के कतिपय प्रसंगों में भारतीय दृष्टि का किंचित योग दिखता है, और जो लेखक को भी अभिप्रेत है, परन्तु उसमें लेखक को अधिक सफलता नहीं मिली। योके के चरित्र में पाश्चात्य अवधारणा[1] की व्याख्या तो हो जाती है, परन्तु सेल्मा का चरित्र पूर्णतया भारतीय दृष्टि का वाहक नहीं बन सका।

कैन्सरग्रस्त एवं बर्फ के नीचे दबे काठघर में कैद होने के ~~कारण~~ बावजूद उसका क्रिसमस मनाना, गीत गाना, नये वर्ष का मुबारकबाद देना, निर्जीव वस्तुओं को

---

१. द्रष्टव्य : " शेखर के सामने प्रश्न यह था कि मेरी मृत्यु की सिद्धि क्या है यानी मैं मर जाता हूं तो कुल मिलाकर मेरे जीवन का क्या अर्थ हुआ ? पर, यहां यह है कि जीवन मात्र के नक्शे में मृत्यु मात्र का स्थान है और यहां मैंने दो दृष्टियों को सामने लाने की कोशिश की है। एक को मोटे तौर पर पूरब की कह सकते हैं और दूसरे को पश्चिम की। " : " अपने अपने अजनबी " -- लेखक की दृष्टि में : ज्ञानोदय : जुलाई --६३ ।

दुलारना, असीसना आदि क्रियाएं उसकी आस्थावान् दृष्टि के प्रतीक हैं। यहाँ तक कि उसकी सह हिमकैदी युवती यौके को उसकी इन बातों के लिए ईर्ष्या व चिढ़ होने लगती है।[1] परन्तु उसका यह व्यवहार दृष्टिगत कम परिस्थिति गत अधिक है। कैन्सर-ग्रस्त वृद्ध जर्जर शरीर वाली सैल्मा के लिए मृत्यु अभिशाप न होकर वरदान ही सिद्ध होगा। जबकि दूसरी ओर यौके के सामने पूरी जिन्दगी पड़ी है। अतः मृत्यु-बोध से उसका बुरी तरह से आक्रान्त होना स्वाभाविक ही है। दूसरे सैल्मा मृत्यु के साक्षात्कार की स्थितियों से पहले भी गुजर चुकी है। बाढ़ के दिनों में टूटे हुए पुल पर मृत्यु के ताण्डव को वह देख चुकी है।

जबकि दूसरी ओर बेटों को तराई में छोड़कर उसका पहाड़ पर अकेले रहना, मृत्यु की कामना भी अकेले में ही करना, अपने दुःखों व कष्टों को चुपचाप झेलते जाना, किसी की सहायता न चाहना, पीने का पानी होते हुए भी टूटे हुए पुल पर फोटोग्राफर को न देना (बादमें उसकी मृत्यु बाढ़ का पानी पीने से हुई पेचिश का दर्द न सह पाने के कारण पानी में छलांग लगाकर आत्महत्या करने से हुई थी) , भूखे यान को ऊंचे दाम पर गोश्त बेचना आदि प्रसंग उसकी आत्मकेन्द्रित अहंवादिता एवं क्षुद्र स्वार्थवृत्ति के द्योतक हैं।

सैल्मा की तुलना में यान का चरित्र भारतीय दृष्टि के अधिक अनुकूल है। यान का अपने जीवन की अन्तिम पूंजी देकर ऊंचे दाम से सैल्मा से गोश्त खरीदना, अपने दोस्त की जलती दुकान में उसे पकाना और पकने पर अकेले खाने की अपेक्षा सैल्मा को साझे में खाने पर बुलाना आदि क्रियाएं उदात्त मूल्यों के प्रति उसकी आस्था को अंकित करती हैं।

पूर्ववर्ती विवेचन में अस्तित्ववादी दर्शन के चार मुख्य आयामों को रेखांकित किया गया है : (१) मनुष्य की अवशता और तज्जन्य मृत्युबोध, (२)अस्तित्व बोध, (३) अहं की केन्द्रियता और (४) निरीश्वरवादिता। इन चारों का

---

१. "वह मरती हुई भी जिये जा रही है और मैं हूँ कि जीती हुई भी मर रही हूँ और मरना चाह रही हूँ।" : "अपने अपने अजनबी" : पृ० ३८ ।

प्रतिफलन यांके के चरित्र में हुआ है। बर्फ की सैर करते हुए तूफान में फंसकर वह बर्फ के नीचे दबे एक काठघर में कैद हो जाती है। वहां उसकी भेंट सेल्मा से होती है। इन स्थितियों में उसका सेल्मा के प्रति उदार व्यवहार होना चाहिए था, परन्तु उसके चरित्र की असाधारणता (Abnormality) उसे अधिक निर्मम, क्रूर व रुक्ष बना देती है। सेल्मा के प्रति ईर्ष्याभाव, उससे चिढ़ना, उसके मृत्यु की कामना करना, निरन्तर मृत्यु बोध से पीड़ित रहना, सेल्मा की मृत्यु के बाद अकेलेपन की भयावहता का अनुभव करना आदि का चित्रण उक्त अवधारणाओं के अनुरूप ही हुआ है। काठघर से बच जाने पर उसका प्रेमी उसे छोड़ देता है क्योंकि बर्फ की कैद से मुक्त यांके को सुनसान जगह में अकेली पाकर जर्मन सैनिकों ने उसे अपनी वासना का शिकार बनाया था। ज़िन्दगी से हताश यांके अब मरना चाहती है, पर किसी अच्छे आदमी की बाहों में। जगन्नाथन की बाहों में जहर खाकर मरना, एक तरह से ईश्वरी न्याय के प्रति विद्रोह है। जहां भारतीय मृणाल (त्यागपत्र) खराब से खराब परिस्थितियों में भी आत्म-हत्या का वरण नहीं करती वहां पाश्चात्य यांके आत्महत्या करके वरण की स्वतन्त्रता का का दावा करती हुई मानो ईश्वर को चुनौती देती है -- 'मैंने चुन लिया। मैंने स्व-तन्त्रता को चुन लिया।'[1]

अस्तित्ववाद के अनुसार जीवन की तीव्रतम अनुभूति मृत्यु के साक्षात्कार के क्षणों में होती है,[2] अतः अस्तित्ववादी साहित्यकार अपने कथानक के चयन में जान-बूझकर ऐसी स्थितियों का निर्माण करता है। प्रस्तुत उपन्यास में टूटे हुए पुल पर का दृश्य तथा बर्फ के नीचे दबे काठघर में सेल्मा और यांके का प्रतिपल मृत्यु की आहट को सुनना इसके उदाहरण हैं।

स्वयं लेखक के अनुसार प्रस्तुत उपन्यास का वस्तु दो सत्य घटनाओं पर आधारित है। काठघर वाली सूचना उन्हें अपने एक स्वीडिश मित्र से मिली थी तो जगन्नाथ वाले वृतान्त का कुछ आधार लखनऊ के एक मित्र से प्राप्त हुआ था।[3] तथापि यह दोनों घटनाएं साधारण जीवन से सम्बन्धित नहीं है। पूरे उपन्यास में अस्तित्ववादी शब्दा-वली -- जैसे, स्वतन्त्रता, वरण, विसंगति, मृत्यु का डर[4] -- का प्रयोग हुआ है।

---

१. अपने अपने अजनबी : पृ० । २. देखिए : पूर्ववर्ती विवेचन : पृ० ।
३. 'एक बूंद सहसा उछली' : अज्ञेय : पृ० २५८ । ४. देखिए : अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या' : डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी : पृ० १२३ ।

अस्तित्ववादी उपन्यासों का शिल्प भी कुछ भिन्नता लिए हुए रहता है क्योंकि उसके कथ्य का सम्बन्ध मानव-बुद्धि वा मानव-मन से होता है। अत: मनोविश्लेषणवादी शैली इसके अधिक अनुकूल रहती है। प्रस्तुत उपन्यास के तीन भागों -- 'योके और सेल्मा', 'सेल्मा' और 'योके' -- में से प्रथम भाग योके की डायरी द्वारा, द्वितीय सेल्मा की स्मृति द्वारा तथा तृतीय पुन: योके द्वारा प्रस्तुत हुआ है। घटना संकोच, पात्रों की कमतरता, सांकेतिक साधनों का आधिक्य, प्रतीकात्मकता प्रभृति शिल्प के नये आयाम यहां भी दृष्टिगत होते हैं।

'शेखर: एक जीवनी' तथा 'नदी के द्वीप' में भाषा जहां एक आभिजात्य एवं तत्समता लिए हुए हैं, वहां 'अपने अपने अजनबी' में भाषा एकदम सादी और निरनग्रह है। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में, 'मृत्यु का साक्षात्कार जैसा रंगहीन और निरावरण हो सकता है, वैसी ही लेखक के वर्णन की भाषा है।.... 'नदी के द्वीप' के बहुशिल्पित गद्य का लेखक मानो यहां अनायास ही प्रायश्चित की मुद्रा में है।..... बोलचाल की भाषा के आधार पर विकसित काव्य-भाषा सूक्ष्म से सूक्ष्म अनपहचानी और अधपहचानी मन:स्थितियों को अंकित करने में पूर्णत: समर्थ है, यह 'अपने अपने अजनबी' में एकबारगी देखा जा सकता है।'[1]

क्या ही अच्छा होता यदि ऐसी सरल-सीधी सहज भाषा के साथ लेखक साधारण व सरल वस्तु में अपने अभीष्ट को अंकित कर पाता। असाधारण वस्तु-चयन के द्वारा असाधारण दृष्टि की स्थापना अपेक्षाकृत आसान है, जबकि साधारण के द्वारा असाधारण की स्थापना अत्यन्त कठिन कवि-कर्म है। यहां गुजराती के नवोदित कवि-कथाकार स्व० रावजी पटेल के 'अश्रुघर' की स्मृति साहजिक है। इसमें लेखक ने जिस आसन्न मृत्यु को देखा है वह अज्ञेय की तुलना में अधिक सूक्ष्म, तीव्र, तिक्त व संवेद्य है क्योंकि स्वयं लेखक ने मृत्यु को खूब गहराई से समीपस्थ होकर जिया है। अज्ञेय का मृत्यु-बोध जहां काल्पनिक एवं दार्शनिक मुद्रा लिए हुए है, वहां रावजी पटेल का मृत्यु-बोध स्वानुभूत सत्य है।

---

१. 'अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या' : डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : पृ० १२६।

उग्रतारा (१९६३)

प्रगतिशील कवि एवं कथाकार नागार्जुन का औपन्यासिक कृतित्व सन् १९४८ (रतिनाथ की चाची) से अनवरत प्रवहमान है। डा० घनश्याम मधुप के मतानुसार नागार्जुन "हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द परम्परा को विकास देते हैं। भारतीय ग्रामीण-जीवन की यथार्थ के स्तर पर गहन अभिव्यक्ति उनकी कृतियों में मिलती है।..... जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि व्यक्तिवादी लघु-उपन्यासकारों के समकक्ष सामाजिक यथार्थ को लघु-उपन्यास विधा में प्रतिष्ठित करने का श्रेय नागार्जुन को है।"[1] शिल्प की कलाबाजियों की अपेक्षा अपने अंचल के प्रति गहरी आत्मीयता तथा पात्रों और परिवेश की सही पहचान नागार्जुन के औपन्यासिक को निरन्तर प्रतिष्ठित करती रही है।[2] साठ के बाद उनके चार उपन्यास मिलते हैं -- 'हीरक जयन्ती' (१९६१), 'उग्रतारा' (१९६३), 'इमरतिया' (१९६८) तथा 'जमुनिया का बाबा'। 'हीरक जयन्ती' में लेखक ने स्वाधीनता के पश्चात् उत्पन्न राजनैतिक अस्थिरता के परिचायक 'नेतो' नामक नये वर्ग का चित्रण व्यंग्य प्रधान शैली में किया है तो इमरतिया तथा 'जमुनिया का बाबा में धर्म के नाम पर चलने वाली धूर्तता एवं पाखण्ड का पर्दाफाश हुआ है।

राजनीतिक वादों एवं नारों से ऊपर भारतीय परिवेश में उगी तथा पनपी प्रगतिशीलता का नया स्वर हमें 'उग्रतारा' में सुनाई पड़ता है। डा० शिवकुमार मिश्र के मतानुसार, "..... मार्क्सवाद सर्वहारा वर्ग अर्थात् शोषित वर्ग का क्रान्तिकारी दर्शन है, अतएव उसकी सम्पूर्ण एवं एक मात्र प्रतिबद्धता इस सर्वहारा वर्ग और उसके हितों के प्रति है।"[3] रूढ़िवादिता एवं पुराने परम्परागत मूल्यों में भारतीय समाज में विधवा नारी का भयंकर नैतिक शोषण होता था। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने शोषण के इस कोण को विशेषतः दृष्टिपथ में रखा है।

---

१. 'हिन्दी लघु-उपन्यास' : पृ० १४४-१४५-१४८। २. तुलनीय : "नागार्जुन की प्रेरणा शिल्प के कौशल से नहीं जीवन-अनुभवों की गहराई और तिक्तता से शक्ति पाती रही है। नागार्जुन जन-मन के साथ गहरी आत्मीयता और तादात्म्य स्थापित स्थापित करते हैं, उनकी साहित्यिक शक्ति का यही आधार है।" डा० प्रकाश चन्द्र गुप्त : आलोचना, जुलाई-सितम्बर, '७२ : पृ० ५१।

३. 'मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तन : इतिहास तथा सिद्धान्त' : पृ० ४३४।

इस उपन्यास में उगनी अर्थात् उग्रतारा नामक एक नारी की संघर्ष-पूर्ण कहानी है जो परिस्थितियों को उनकी यथार्थ पृष्ठभूमि पर सकारती है। वह मढ़िया-सुन्दरपुर की एक युवा विधवा है। विधवापन उसे मानो मातृक संपत्ति वा दोष के रूप में प्राप्त हुआ है। उसकी माँ तथा दादी भी युवावस्था में विधवा हुई थीं। उगनी नई विधवा थी, उसकी मां पुरानी विधवा थी। कहते हैं दादी भी विधवा थीं। कैसे वैधव्य का इतना लम्बा अभिशाप उसके खानदान पर पड़ा था, यह रहस्य और आश्चर्य की बात थी।[१]

परन्तु नर्मदेश्वर की भाभी वहाँ के कतिपय युवक-युवातियों में नयी च चेतना के प्राण फूंक देती है। उसके ही प्रयत्नों से कामेश्वर और उग्रतारा पहले प्रणय और बाद में परिणय के लिए तैयार होते हैं। पुरानी पीढ़ी के समाज के ठेकेदार भला इस बात को कैसे बरदाश्त कर सकते हैं। गाँव के वृद्ध लोगों में विधवाएं तो वरदान स्वरूप होती हैं। फलत: कामेश्वर और उगनी को गांव से भागना पड़ता है, परन्तु गांव वालों की झूठी रिपोर्ट के आधार पर दोनों पुलिस द्वारा पकड़ लिए जाते हैं। गाँव से सत्तर मील दूर दूसरे जिले की सबडिविज़न अदालत में एक ही पेशी में उनका केस खत्म हो जाता है। कामेश्वर का नर्मदेश्वर के नाम भिजवाया गया तार बीच में ही उड़ा लिया जाता है। उसे मुसलमान करार दिया जाता है और यह आरोप लगाया जाता है कि वह उगनी को पाकिस्तान भगा ले जा रहा था। उगनी को तीन महीने की तथा कामेश्वर को नौ महीने की सज़ा होती है। पुलिस तथा मढ़िया-सुन्दरपुर के नर-राक्षसों ने उगनी की देह पर अनेक अत्याचार कि किए थे। अन्तत: आत्महत्या के विकल्प में उगनी को भभीखनसिंह जैसे बुढ़ापे की दहलीज पर पहुंचे सिपाही से विवाह करना पड़ता है। लेखक ने इसका बड़ा ही मार्मिक और व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया है --" भभीखनसिंह ने वैदिक विधियों से शादी की थी। ठीक है, आधे घण्टे तक अग्नि में आहुतियां डाली गई थीं। ठीक है, हवन के धुएं ने बहुतों की आँखों को आनन्द के आसुओं से भि गीला कर दिया था। ठीक है, तोला-भर सिन्दूर मांग के बीचोंबीच कई दिनों तक जमा रहा। सब कुछ ठीक है। लेकिन स्त्री-पुरुष के बीच इतना बड़ा फासला किस तरह म मखौल उड़ा रहा था विवाह के संस्कारों का। बाबू भभीखनसिंह को ~~कानूनी~~ कानूनी

---

१. 'उग्रतारा' : पृ० ३७।

तौर पर बलात्कार का हक हासिल हुआ।'[१]

उगनी ने मन से कभी मभीखनसिंह को स्वीकृत नहीं किया। उससे शरीर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सिपाही को मां की बफी का प्रयोग करना पड़ता है। सिपाही से उसे गर्भ भी रहता है। परन्तु कामेश्वर लेखक के ही शब्दों[२] में 'नये भारत का नया युवक है, पुराने ढंग का किशोर नौजवान नहीं।' मैट्रिक फेल है परन्तु नर्मदेश्वर की मामी के सत्संग तथा 'आर्यावर्त', 'आज', 'योगी' 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'नवनीत', 'सरस्वती', 'नयी धारा' प्रभृति के पठन-पाठन से उसमें एक नयी दुनिया आबाद हो रही थी। कारावास से मुक्त होते ही उगनी का पता लगाकर उसकी सारी परिस्थितियों से परिचित होते हुए भी, उसे उड़ा ले जाता है। सुन्दर-मढ़ियापुर से कोसों दूर एक कसबाई शहर के छोटे से क्वार्टर में नर्मदेश्वर तथा उसकी मामी की सहायता से उन दोनों का नया संसार शुरू होता है। उगनी की मां को भी बुला लिया जाता है। कामेश्वर होटल का व्यवसाय करना चाहता है। इस प्रकार हमें कामेश्वर में हमें आधुनिक युग के प्रगतिशील युवक के दर्शन होते हैं।

शादी और प्रेम इन दोनों स्थितियों में उगनी अलग-अलग ईमानदारी से जीती है। कामेश्वर के साथ भाग आने के पश्चात् वह सिपाही मभीखनसिंह को एक पत्र में लिखती है --'मैंने अपना सबकुछ जिसे सौंप दिया था, उसी के साथ गांव से निकली थी। जिसके साथ गांव से निकली थी, वही मुझे आप के क्वार्टर से निकाल लाया है। उस आदमी का दिल बहुत बड़ा है। पराये गर्भ को ढोने वाली अपनी प्रेमिका को फिर से, बिना किसी हिचक के, उसी उसने स्वीकार कर लिया है। उसने मुझ से शादी कर ली है।..... आपकी छाया में आठ महीने रही हूं। मन ही मन आप को पिता और चाचा मानती रही हूं और आगे भी वैसा ही मानती रहूंगी। मैं मजबूर थी, इसी से आपको धोखा दिया। सिपाहीजी आप मुझे सारा जीवन याद रहेंगे।'[३]

यह सारी कथा अपने परिवेश से पूर्णतया संपृक्त होने से यथार्थ के अधिक सन्निकट है। कामेश्वर और उग्रतारा दोनों का चरित्र काफी दृढ़ है।

---

१. उग्रतारा' : पृ० ४१-४२। २. वही : पृ० ४२। ३. वही : पृ० १२३।

परिस्थितियों से समझौता न कर उन पर विजय प्राप्त करने की उनमें अद्भुत क्षमता है। सीताहरण की कथा को हम यहाँ नये सन्दर्भों में देखते हैं। समाज के ठेकेदार तथा पुलिस रूपी रावण द्वारा अपहृत सीता को यहाँ राम के कंधों का सुदृढ़ आधार मिला है। डॉ० मधुरेश के शब्दों में "`उग्रतारा` में (तो) लेखक दैहिक पवित्रता का परम्परागत और रूढ़ प्रभामण्डल तोड़कर मन की पवित्रता की बात करता है जिसमें बहुत-सी सामाजिक रूढ़ियां और वर्जनाएं अपने-आप ही चटखकर टूट जाती हैं।"[1]

इमरतिया (१६६८)

शिल्प एवं वस्तु दोनों दृष्टियों से `इमरतिया` नागार्जुन का एक महत्वपूर्ण लघु उपन्यास है। मूलत: इसे मैथिली में लिखा गया था। मठों एवं मन्दिरों में व्याप्त भ्रष्टाचार का संकेत तो कई उपन्यासों में मिलता है, पर केवल इसी वस्तु पर लिखा गया यह पहला उपन्यास है। शिल्प की दृष्टि से यह नागार्जुन का श्र श्रेष्ठतम उपन्यास है। `उग्रतारा` और `इमरतिया` दोनों में नागार्जुन की शिल्प विषयक सजगता मिलती मिलती है, परन्तु `इमरतिया` में यह सजगता कला के नये आयामों को छूती हुई जान पड़ती है। `इमरतिया` प्रयोग के लिए प पयोग नहीं है। व्यापक जीवनानुभवों से सन्दर्भित कलाकार का शिल्पगत प्रयोग भी यथार्थ की नाना तहों को तराशता-तलाशता है। यह आत्मकथनात्मक शैली का एक विशिष्ट उपन्यास है। आत्मविश्लेषण, आत्मसम्भाषण, चेतना-प्रवाह, पूर्वदीप्ति, शब्दसहस्मृति, अखबारी रिपोर्ट, स्वप्नविश्लेषण आदि विभिन्न शैलियों का इसमें सफल निर्वाह हुआ है।

इमरतिया अर्थात् माई इमरतीदास, जमनिया महन्ती दरबार का बाबा, साधू मस्तराम, भोतीप्रसाद जमींदार यह चार इसके मुख्य पात्र हैं। उपन्यास की बुनावट नाट्यात्मक है। बिहार, उत्तर प्रदेश, और नेपाल के सीमान्तवर्ती स्थान पर नारायणी नदी के किनारे स्थित जमनिया मठ के उत्थान एवं पतन की कथा का आलेखन लेखक ने उपर्युक्त चार पात्रों के आत्मसम्भाषण द्वारा इस खूबी से

---

१. आलोचना, जुलाई-सितम्बर, `७२ : पृ० ५३।

किया है कि उनकी बातों से कथा-पट के ताने-बाने बुनते चले गये हैं। प्रथम तीन प्रकरणों में क्रमश: माई इमरतीदास, मस्तराम <s>तथा</s> और बाबा तथा अन्तिम तीन प्रकरणों में क्रमश: बाबा, मस्तराम और इमरतीदास अपनी-अपनी बात कहते हैं। दोनों के केन्द्र में है भगौती। भगौती तक की कथा में जमनिया महन्ती दरबार का उद्भव तथा उसका उत्कर्ष, उसमें व्याप्त भ्रष्टाचार एवं गुण्डागर्दी, मेलों और भण्डाराओं का लगना, मस्तराम द्वारा भगत-भगतिनों को सोटी छुआना, बाबा तथा उसके गुर्गों द्वारा मठ की साधुआइन के लक्ष्मी के बच्चे का बलि देकर मठ की सिद्धि-वृद्धि का प्रयास करना, पहले लक्ष्मी का पागल जाना और बाद में शंकास्पद स्थितियों में उसकी मौत होना, पुलिस-केस होने पर गौरी नामक सधुआइन का थाने में चार दिन रहकर केस को सुलझा देना, स्वामी अभयानन्द नामक शिक्षित एवं समाजसेवी साधु का मठ में आना, महन्ती दरबार की जय न बोलने के सबब में बाबा की उपस्थिति में ही मस्तराम द्वारा उसकी बुरी तरह से पिटाई, इसी सिलसिले में बाबा, मस्तराम तथा माई इमरतीदास का पुलिस द्वारा पकड़ा जाना, इमरतीदास का जमानत पर छूटना, पारखी हाकिम की आज्ञा से बाबा की जादुई लटों का उतारा जाना, जेल में भी अधिकारियों तथा अन्य कैदियों बाबा के प्रभाव का बढ़ना और उनके द्वारा भंग, चरस, खान-पान आदि की विशेष सुविधाएं प्रदान करवाना, जेल में भी सोटी छुआने की प्रथा का चलना तथा बाबा की मुक्ति के लिए भगौतीप्रसाद द्वारा ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाना आदि घटनाएं दृष्टिपथ से गुजरती हैं।

परन्तु भगौती के प्रकरण से ही कथा में मोड़ आता है। बाबा, भगौती, मस्तराम आदि के मोहभंग की अवस्था का यहां से प्रारम्भ होता है। इस प्रकरण में लेखक ने अखबारी रिपोर्टों की शैली का कलात्मक विनियोजन किया है। भगौती परेशान है। वह अफीम खाता है। तब उसकी तन्द्रावस्था के चित्रण में लेखक ने चेतना-प्रवाह शैली का भी यत्किंचित प्रयोग किया है। इसमें बाबा के विरुद्ध जनमत का तैयार होते जाना : बाबा का अपने पूर्व-जीवन में मुसलमान होने के समाचार का तूल पकड़ते जाना : लालताप्रसाद, रामजनम, सुखदेव, सेठ विघोचन्द, ठाकुर शिवपूजन सिंह तथा शिव नगर स्टेट की महारानी प्रभृति बाबा के समर्थकों का खिसकते जाना : जेल की सुविधाओं का कम होना आदि दिखाया गया है। अन्तिम तीन प्रकरणों में मोहभंग की प्रतिक्रिया एवं परिणाम है। बाबा के लिए अब किसी में श्रद्धा नहीं है। राजसी ठाठबाट से रहने वाले बाबा की एक ग्लास

छात्र के लिए मिन्नतें करनी पड़ती हैं, मस्तराम अपने में मस्त दीखते हुए भी काल्पनिक यूटोपिया से बाहर निकला हुआ प्रतीत होता है । इमरतीदास का स्त्रीत्व प्रकट होने लगता है और वह अपना प्रेम मस्तराम को समर्पित करते हुए उसे सजा काट चुकने के बाद हरद्वार में मिलने का संकेत देती है। इस प्रकार लेखक ने पात्रात्मक नाट्यप्रधान शिल्प का प्रस्तुत उपन्यास में बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है।

यहाँ भी लेखक अपने परिवेश तथा उससे संलग्न समस्याओं से असंपृक्त नहीं है। धार्मिक या साम्प्रदायिक मठ-मन्दिर अनीति के धाम बनते जा रहे हैं। पाखण्ड एवं धूर्तता अपनी सीमा लांघ चुके हैं। स्वार्थी, लालची, आत्म लिप्त अन्धविश्वासी लोग उनके द्वारा निरन्तर ठगे जाते हैं। जमनिया के बाबा जैसे रंगे सियार अपने देश में कहीं भी मिल सकते हैं क्योंकि उनके साथ भगौतीप्रसाद, ललताप्रसाद तथा सेठ विधीचन्द जैसों के स्वार्थ जुड़े हुए हैं।[1] बाबा के शब्दों में "हिन्दू जाति सचमुच गाय होती है। बार-बार दुहते जाओ, बूंद-बूंद निचोड़ लो। फिर भी लात नहीं मारेगी, सींग नहीं चलाएगी। अपनी भोली भाली जनता को दुहने के लिए भगौती ने हम से बछड़े का काम लिया...."[2]

मठ में लक्ष्मी और गौरी जैसी सधुआइनें रहती हैं, जिसका उपयोग मठ के सवैसेवाओं की वासनापूर्ति के लिए होता है। गौरी साल में दो-तीन मर्द बदलती है क्योंकि उसके ही शब्दों में वह गरमाये हुए घोड़े को भी शान्त करने की कूवत रखती है।[3] लक्ष्मी को महन्त से भी-ही गर्म रहता है। बाद में उसके बच्चे की बलि दी जाती है। इमरतीदास अभी बची हुई है क्योंकि मस्तराम भीम की तरह उस द्रौपदी की रक्षा भगौती जैसे दुष्ट कीचक से कर रहा था।[4] इसी मठ में बेंत की पिटाई से निःसन्तान स्त्रियों को संतान-प्राप्ति करवाई जाती थी। मस्तराम की ड्यूटी तो बेंत की पिटाई के बाद खत्म हो जाती थी। अगला मोर्चा भगौती-ललता, रामजनम, सुखदेव जैसे फतह बहादुर सम्भालते थे। यही लोग ठूंठ की कोख से पौधा पैदा करने की विधा जानते थे। पत्थर पर दूब जमाने की हिकमत

---

१. 'इमरतिया' : पृ० १११। २. वही : पृ० १११। ३. वही : पृ० २७।
४. वही : पृ० ११७।

इन्हीं लोगों को मालूम थी।"[1] इन्हीं कारणों से बाबा को पिछड़ी जातियों के अनपढ़ लोगों से विशेष प्रेम है। रंग और भेस के पीछे वे ज्ञान की परख नहीं करते।

यहां लेखक शासन में व्याप्त भ्रष्टचार पर करारी चोट करने में चुका नहीं है। जेल के भीतर भी भांग, चरस, गांजा और अफीम का बाजार गर्म है। लक्ष्मी के बच्चे के बलि वाले प्रसंग में भरतपुरा के थानेदार को गौरी द्वारा प्रसन्न कर लिया जाता है। गौरी उसके साथ चार दिन रहती है। लेखक ने इसका बड़ा ही व्यंग्यात्मक चित्र खींचा है: "भरतपुरा की पुलिस के रेकार्ड में दर्ज हुआ होगा - "पूजा की आठवीं रात में जाने किधर से एक पगली आई। उसकी गोद में छ: महीने का बच्चा था। पुजारी की नजर बचाकर उसने बच्चे को हवन-कुण्ड में डाल दिया।..... सरकार बहादुर से अर्ज है कि वह जमनिया मठ के सन्त शिरोमणि बाबाजी महाराज की प्रतिष्ठा और इज्जत को ध्यान में रखें।"[2]

इमरतिया, मस्तराम, भगौती, बाबा आदि के चित्रण में लेखक ने सूझ-बूझ से काम लिया है। इमरतिया में सुषुप्त स्त्रीत्व की भावनाओं का कहीं प्रकट और कहीं संकेतात्मक चित्रण उपलब्ध होता है। लेखक उसके मासिक-धर्म की बात करना भी चूकता नहीं है। एक बार सोते में खाना पकाने वाले महराज की खुली जांघ वह देख लेती है। तब उसे देर तक नींद नहीं आती और उसके दिमाग के चकले पर महराज की जांघ बेलन की तरह चलती रहती है।[3]

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने हमारे मठों और मन्दिरों में व्याप्त भ्रष्टाचार के घिनौने रूप का बड़ी कुशलता से पर्दाफाश किया है। किस प्रकार सामान्य लोगों की भावनाओं से खिलवाड़ किया जाता है और किस प्रकार उन्हें अपने चंगुल में फंसाया जाता है उसका ब्यौरेवार चित्रण इसमें हुआ है। समाज की देह पर कोढ़ के समान इन मठों पर फलने-फूलने वाले लोगों के चेहरे पर के नकाब को भी लेखक ने कुशलतापूर्वक हटाया है।[4] अस्तु संक्षेप में कहा जा सकता है कि नागार्जुन का या उपन्यास अपने नवीन कथ्य, शिल्प एवं संवेदना में अनूठा बन पड़ा है।

---

१. "इमरतिया" : पृ० १८५। २. वही : पृ० २६। ३. वही : पृ० २२। ४. द्रष्टव्य : "यह क्या मेरी जटाओं का ही जादू नहीं था कि भगौती ने अपनी चारों लड़कियों की शादी में लाखों रुपये खर्च किए? लालता ने अपने बेटों को डाक्टर और इंजिनियर कैसे बनाया? सेठ घिर्घीचन्द की तोंद तिगुनी किस तरह हुई? ठाकुर शिवपूजन सिंह ने ट्रैक्टर कैसे खरीदा? रामजनम और सुखदेव की क्या हैसियत थी दस वर्ष पहले?" : "इमरतिया" : पृ० १११।

बारह घण्टे (१९६४)

यशपाल मूलत: यथार्थवादी उपन्यासकार हैं। "हिन्दी साहित्य में उन्हें मार्क्सवाद के ~~व्याकार~~ व्याख्याकार अथवा फ्रायडियन सिद्धान्त के प्रयोगकर्ता के रूप में जाना जाता है। उनके 'झूठा सच', 'पार्टी कामरेड', 'दादा कामरेड', 'मनुष्य के रूप' आदि उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध क्रान्तिकारिता या जीवन की मार्क्सवादी व्याख्या ही दिखाई पड़ती है। बारह घण्टे इस लीक से हटा हुआ है।"[१] यशपाल की नयी प्रगतिशील भाव-सृष्टि एवं बोध को -- उनके औपन्यासिक के अगले विकास-सोपान को -- हम 'बारह घण्टे' तथा 'मेरी तेरी उसकी बात' में ~~सूक्ष्मता~~ सूक्ष्मता से अंकित होता हुआ महसूस करते हैं। इधर की रचना होते हुए भी 'क्यों फंसे' (१९६८) यशपाल की कलम से कुछ कमजोर प्रतीत होता है। ऐसा लगता है उपन्यास की कला पर गर्भ निरोधक अभियान' कुछ-कुछ हावी हो गया है। लेखक को स्त्रियों की आर्थिक आत्म-निर्भरता तथा गर्भ-निरोध के साधनों में उनकी मुक्ति दिखती है। और कुछ हद तक यह सही भी है।

इसमें यशपालजी ने केवल बारह घण्टों की घटनाओं तथा दो समानधर्म धर्मा प्रेमियों के स्मृति संवेगों के तानों-बानों से कथा को बखूबी बुना है। अड़तीस वर्षीय प्रौढ़ा बिनी अपने दिवंगत पति रोमी नेपियर की कब्र पर 'ब्ल ट्यूब रोज़' नामक फूल चढ़ाने के लिए लखनऊ से नैनिताल आती है। वहां उसकी बहिन जैनी तथा बहनोई पामर रहते हैं। बिन्नीग्यारह महीने पूर्व रोमी की मृत्यु झील में डूब जाने से हुई थी। बिनी रोमी को खूब चाहती है। फूल के मुरझा जाने से की आशंका से वह सामान जैनी के घर रखकर तुरन्त अकेली ही सिमिट्री चली जाती है। वहां उसकी भेंट फन्टम नामक एक प्रौढ़ विधुर सज्जन से होती है जिनकी पत्नी सेनी टी० बी० का शिकार हो चल बसी थी तथा जिसे उसी सिमिट्री में दफनाया गया था। फन्टम अपनी पत्नी की कब्र पर फूल चढ़ाने के लिए पिछले छ: महीनों से बिला नागा पैदल ही आता है। बिनी तथा फन्टम दोनों अति भावुक एवं भग्न-हृदय प्रेमी हैं, अत: परस्पर ही प्रणय-स्मृतियों में उन्हें अपने-अपने जीवन की झांकी मिलती है। पहले 'वैलिरियो रेस्तरां' और बाद में फन्टम के घर बैठकर दोनों अपनी-अपनी आपबीती सुनाते हैं और एक दूसरे के दर्द से प्रभावित होते हैं।

---

१. 'हिन्दी लघु-उपन्यास' : डा० घनश्याम 'मधुप' : पृ० १२७।

परस्पर की सहानुभूति अन्त में प्रेम में परिणत होती है। डा० धनराज मानधाने के अनुसार 'एक ही प्रकार की वेदना से पीड़ित दो विपरीत लिंगी व्यक्ति जब किसी कारणों से एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तो मनोवैज्ञानिक दृष्टया वह वही करते हैं जो साधारण नर-नारी करते हैं।'[1]

उधर जैनी और पामर किनी के लिए परेशान होते हैं। वे लोरेन्स डी० वाय० एस० पी० की सहायता भी लेते हैं। रात के आठ बजे उन्हें किनी की एक चिट्ठी मिलती है जिस में वह लिखती है कि वह रात में फैन्टम के यहां ठहरेगी। चिट्ठी के मिलते ही जेनी और पामर की सहानुभूति घृणा और कठोरता में बदल जा जाती है। प्राय: देखा जाता है कि हम अपने प्रिय जन की दु:खी अवस्था में सहानुभूति जताते हैं, पर किसी व्यक्ति के द्वारा उसके ऊपर उठने से हम अप्रत्याशित रूप से कटु हो जाते हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा कृत 'टैराकोटा' नामक उपन्यास में प्रकाश की मां का मिति के परिवार के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रवैया है। परन्तु मिति के आई० ए० एस० में लिए जाने के समाचार से भीतर ही भीतर जल-भुन जाती है। जैनी और पामर का व्यवहार भी उसी कोटि का है। जैनी अपनी बहिन को कुतिया कहती है।[2]

किनी के व्यवहार से जैनी और पामर के क्षोभित होने पर लारेन्स उन्हें जीवन और उसमें प्रेम की आवश्यकता का महत्व समझाता है। लारेन्स के रूप में हमें लेखक की उपस्थिति का अहसास होता है। डा० घनश्याम मधुप के शब्दानुसार 'लेखक ने अपनी इस कृति में बदलते परिवेश में प्रेम सम्बन्धी बदलती मान्यताओं को अत्यन्त लघु फलक पर बारह घण्टे के अन्तराल में प्रस्तुत किया है।'[3] इसमें लेखक ने प्रतिपादित किया है कि प्रेम और विवाह आत्मा के सम्बन्ध की अपेक्षा शरीर के सम्बन्ध पर अधिक निर्भर है। ऐसा न होता तो सावित्री सत्यवान के पार्थिव शरीर को न मांगती।[4] यहां किनी सावित्री की तरह फैन्टम के रूप में सत्यवान या रोमी को पुन: पाती है।[5]

---

१. 'हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास' : पृ० ९८७-८८।

२. 'बारह घण्टे' : पृ० ६६। ३. 'हिन्दी लघु-उपन्यास' : पृ० १२८।

४. 'बारह घण्टे' : पृ० १०६। ५. वही : पृ० १०८।

अत: प्रस्तुत उपन्यास में लेखक भावुक होकर प्रेम के व्यावहारिक पक्ष को उद्घाटित किया है । बिन्नी की अश्रुधारा से रोमी की समाधि का धुल जाना तथा उनसे उसके दो-दो रूमाल का माँग जाना कुछ अति नाटकीय-सा प्रतीत होता है है । ऐसे प्रसंगों में भाषा भी कुछ अतिभावुकतापूर्ण हो गई है । तथापि 'बिन्नी और फैन्टम अति सहज और सरल होकर संवारे गए हैं । दो दु:खी व्यक्तियों को एक सामान्य सूत्र में बाँधने वाले भावों और मनोदशाओं का अति सूक्ष्म और कलापूर्ण अंकन यशपाल ने बड़ी निपुणता और कौशल के साथ इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है ।'[1]

मेरी तेरी उसकी बात (१९७५)

अपने यथार्थवाद नामक ग्रन्थ में डा० शिवकुमार मिश्र ने 'यथार्थ' और 'यथातथ्यता' के अन्तर को स्पष्ट किया है ।[2] यथार्थ की समग्रता को आत्मसात् किए बिना एक विशिष्ट परिवेश को विशिष्ट दृष्टि से यथातथ्य चित्रित कर देने मात्र से कोई कृति यथार्थवादी नहीं हो सकती । 'शहर में घूमता आईना' तथा 'बांधो न नाव इस ठांव' (१९६४) जैसी कृतियाँ इसी कारण से 'मेरी तेरी उसकी बात' से अलग पड़ती हैं । अश्क उपर्युक्त दोनों कृतियों में कोई भी पात्र नहीं है, जबकि नारकीय से नारकीय जीवन बिताने वालों में भी उच्च मानवीय संवेदना के दीप फिलमिलाते हैं । 'मेरी तेरी उसकी बात' समाज के व्यापक फलक एवं यथार्थ की समग्रता को सहेजकर चलने वाली कृति है । 'झूठा सच' के बाद इस कृति ~~में लेखक के चिन्तन ने~~ लेखक के चिन्तन व कलात्मक प्रौढ़ता को एक पग आगे बढ़ाया है । जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी जैसे लेखक जहाँ क्रमश: 'अनामस्वामी' और 'भूत का भविष्य' जैसी भरती की कृतियाँ दे रहे हैं वहाँ 'मेरी तेरी उसकी बात' में यशपालजी अपनी ही परम्परा का कहीं कहीं अतिक्रमण करते हुए[3] यथार्थ के नये क्षितिजों का उद्घाटन करते हैं ।

---

१. डॉ० मधुरेश : आलोचना-क्रमांक-२८ : पृ० १२६ ।

२. देखिए : 'यथार्थवाद' : डॉ० शिवकुमार मिश्र : पृ० १४०-१४५ ।

३. देखिए : आलोचना, क्रमांक-३६ : पृ०८१-८६ ।

यह बृहदकाय उपन्यास एक साथ दो धरातलों पर चलता है। एक तरफ तो इसमें १९४२ तथा उसके पहले तथा बाद के राजनीतिक परिवेश को लेखक ने सही और गहरी समझ के साथ चित्रित किया है, दूसरी तरफ इस सामाजिक-राजनीतिक परिवेश में अमर, नरेन्द्र, रज़ा, उषा, रतनलाल, वकील कोहली, हरिमैया, पुष्पा इंशा, रुद्रदत्त पाठक जैसे पात्रों को रखकर युगीन सन्दर्भों के अनुसार अलग-अलग परिणति दिखाते हुए उनके वैचारिक संघर्ष के कोणों को अधिक धारदार बनाया है।

तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य का सूक्ष्म व कलात्मक अंकन प्रस्तुत उपन्यास का एक उल्लेखयोग्य पक्ष है। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'प्रश्न और मरीचिका' में भी १९४७ से लेकर १९६२ के चीनी आक्रमण तक की राजनीतिक घटनाओं को लिया गया है, परन्तु सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों की गहरी समझ के अभाव में वह केवल राजनीतिक पृष्ठभूमि पर आधारित नियतिवादी दर्शन को उद्घाटित करने वाली एक किस्सागोई शैली की साधारण रचना बन पाती है, जबकि प्रस्तुत कृति उस युग की एक महाकाव्यात्मक छवि को उभारते हुए अपनी सार्थकता सिद्ध करती है।

अहिंसा के सारे नीतिगत दावों के बावजूद कांग्रेस के वैचारिक जगत पर गांधीजी का तानाशाही रवैया, समाजवादी रुझान और विश्वासों के रहते हुए भी नेहरू का गांधी के प्रति मौन अनुगमन, सन् ३४ के पटना कांग्रेस के अवसर पर असंतुष्ट समाजवादियों का आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में 'कांग्रेसी समाजवादी पार्टी' का गठन, परन्तु बाद में '३६ के त्रिपुरा कांग्रेस के मौके पर उसकी अवसरवादिता, त्रिपुरा कांग्रेस के अधिवेशन में सुभाषबाबू के विरोध में गांधीजी और उनके समर्थकों की ओछी नीति -- डा० गाडगिल की रिपोर्ट के बावजूद सुभाषबाबू के १०३ डिग्री बुखार की गम्भीरता को साधारण रूप में लेना, स्ट्रेचर पर उनके लाये जाने को सहानुभूति जीतने का नाटक कहना, दवा-दारू के लिए उनकी भतीजी की उपस्थिति को लांछना और विद्रूप की भाषा में लेना -- इन सबके द्वारा लेखक ने तत्कालीन राजनीतिक छद्म को बहुत गहराई से उद्घाटित किया है।

उपर्युक्त राजनीतिक सन्दर्भों के बीच लेखक ने कुछ काल्पनिक पात्रों को बड़ी कुशलता के साथ छोड़ दिया है। अमर, नरेन्द्र और रज़ा के राजनीतिक विश्वासों, मान्यताओं एवं आदर्शों का रूपायन लेखक ने युगीन-सन्दर्भों में किया है। नरेन्द्र आगे चलकर कम्युनिस्ट हो जाता है, रज़ा एम० एन० राय का समर्थक हो जाता है और अमर की परिणति समाजवादी कांग्रेसियों में होती है। उषा को पहले अमर समाजवाद की ओर आकृष्ट करता है, परन्तु विश्वविद्यालय में रत्ना के सम्पर्क से वह कम्युनिस्टों की ओर आकर्षित होती है। तथापि अमर के सुझावों एवं प्रयत्नों से वह कांग्रेसी समाजवादी पार्टी का ही काम करती है। नरेन्द्र का यह कथन कि, "उस आन्दोलन में (१९४२) जेल जाने वाले लौटकर सौ में से साठ कम्युनिस्ट बन गये हैं"[1] रेणु के बावनदास की व्यथा का स्मरण दिलाता है। हरिभैया जैसे बीस रूपया महीना लेकर पूरे समय कांग्रेस का काम करने वाले और दो-एक दिन यदि घर गये हों तो उन दिनों का वेतन नहीं लेने वाले ईमानदार कांग्रेसी की करुण परिणति भी हमारे हृदय को दहला जाती है।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने अपनी आस्था का सम्बल युवा-वर्ग में ढूंढा है क्योंकि ज़िन्दगी के दोहरे प्रतिमान इस वर्ग में कम नज़र आते हैं। आपसी सम्बन्धों की ईमानदारी और मानवीय संवेदनाओं से परिपूर्ण हार्दिकता ही इस वर्ग की सबसे बड़ी पूंजी है। रतनलाल सेठ के लिए वंश और कुल की मर्यादा (?) सर्वोपरि है, अत: वे ईशा को ज़िन्दगी भर अपनाते हुए भी मज़हब और कुल-मर्यादा की दीवारों में आबद्ध रहे। उसके घर पर पान उनके लिए हमेशा बाहर से आता है, जबकि अमर ईशा के यहां बाहर का पान खाने से इन्कार कर देता है। अमर एक स्थान पर कहता है: "मौसी चचा के अपने ख्याल, हमारे दूसरे। हम और वो लड़की (उषा) बिरादरी और मज़हब की दीवारों को नहीं मानते। हमारा खुदा और मज़हब सचाई और इन्सानी इन्साफ़ और इन्सानी बराबरी।.... चचा की मंशा कि हम उससे तफ़रीह बेशक करें, शादी न करें। हम से ऐसे धोखे, ज़ुल्म और गुनाह की उम्मीद।"[2] उपर्युक्त कथन में युवापीढ़ी की वैचारिक दृढ़ता का स्पष्ट संकेत मिलता है जिसे एक प्रकार से इस पीढ़ी का घोषणापत्र भी कहा जा सकता है।[3]

---

१. "मेरी तेरी उसकी बात" : यशपाल : पृ० ७३५। २. वही : पृ० ३७६।
३. देखिए : डॉ० मधुरेश : आलोचना, जनवरी-मार्च, '७६ : पृ० ८६।

इस उपन्यास में यशपालजी ने स्त्री के शोषण एवं जड़ता से उसकी मुक्ति की आवाज़ को भी बुलन्द किया है। `झूठा सच` की तारा की अपेक्षा प्रस्तुत उपन्यास की उषा `पोजिटिव` हीरो की सम्भावनाओं को अधिक धारण किए हुए है। उसका संघर्ष केवल राजनीतिक ही नहीं, वरन् सामयिक भी है। अपने चारों तरफ़ समाज में जहां भी रूढ़ियां, अन्तर्विरोध और अन्याय हैं, हर कीमत पर वह उनसे लोहा लेती है। लेखक ने यहां समाज के इस कटु सत्य को भी कि हमारे यहां के रोशन-ख्याल युवक भी एक सीमा के बाद सदियों के पुराने संस्कारों के परिणाम स्वरूप पुरुषजनित `पजेशन` की वृत्ति के शिकार हो जाते हैं। फलतः सारे तनाव और संघर्ष के बावजूद भी अमर-उषा का प्रेम-विवाह बुरी तरह असफल हो जाता है और अपने घर-परिवार से उखड़कर अपने लिए निजी राहों को तलाशने वाली उषा को यातनादायी स्थितियों से गुजरना पड़ता है। यहां पर यशपालजी के अपनी परम्पराओं का अतिक्रमण कर आगे बढ़ते हुए प्रतीत होते हैं। विधवा-विवाह की स्थिपत को पैदा करके भी इसमें उन्होंने वह नहीं करवाया है। उषा का नरेन्द्र के प्रति कुछ खुला व्यवहार उसकी मानसिकता व प्रकृति के अनुरूप है। अमर यहां अपनी सारी प्रगतिशीलता के बावजूद पुराने रूढ़िवादी संस्कारों से ऊपर उठ नहीं सकता। स्त्री के प्रति पुरुष के मल्कियत के भाव एवं प्रेम के छद्म को भी लेखक ने खुल्ला कर दिया है। उषा के विदाभि को लक्ष्य कर करके उषा की एक सहेली चित्रा कहती है: "उषी प्रेम-वरेम कुछ नहीं।[१] सचमान लड़कियों के लिए शादी दिल्ली के लड्डू हैं। जिसे न मिले पछताये, जो खाये सो पछताये। प्रेम-निष्ठा मर्दों की रीझ और औरतों का धर्म।"[२]

कोहली परिवार में भी पुष्पा के सन्तान न होने पर डाक्टरी ~~परिक्षण~~- परीक्षण और सारी लांछनाएं अकेली पुष्पा को ही बरदाश्त करनी पड़ती है। महेन्द्र ~~इसका~~ इन सबसे इसलिए बच जाता है कि वह पुरुष है। इस ~~प~~ प्रकार उपन्यास में अनेक स्थानों पर लेखक ने ~~स्त्री~~-शोषण के खिलाफ़ अपनी आवाज़ उठायी है।

---

१. तुलनीय : "Love is a passion, and nothing is more dangerous for the calm of knowledge than passion. ....Love is cruel goddess, and lide every diety, it wishes to subjug te the
२. `मेरी तेरी उसकी बात` : पृ० २३८। (see on next page)

प्रस्तुत उपन्यास में 'झूठा सच' की अपेक्षा यशपाल अधिक स्पष्ट होकर आये हैं। उनके अनुसार क्रान्ति केवल वैयक्तिक प्रश्न नहीं है। स्थापित मान्यताओं व रूढ़ियों के प्रति वे सामाजिक भावना जगाने पर बल देते हैं क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि जिनकी मुक्ति के लिए क्रान्ति की ज़रूरत है वे ही लोग क्रान्ति के विरोधी हो जायं। "समाज को भी उसकी गलत मान्यताओं के लिए तोड़ना नहीं मोड़ना ही होगा। क्रान्ति की सफलता तोड़ देने के यत्न में नहीं, मोड़ सकने में है।"[१] लेखक का यह निष्कर्ष उसकी संतुलित जीवन-दृष्टि का परिचय देता है। अन्त में इस उपन्यास के 'किस की बलि?' से यह साफ हो जाता है कि भले ही अपनी सन्तान के लिए भविष्य के लिए उषा अपनी बलि देने की बात कहे-करे लेकिन यह बलि सिर्फ उसकी न होकर उन सबकी भी है जो एक चौतरफा संघर्ष की पीड़ा और यातना सहकर भी आज मोहभंग और उससे पैदा हुई जड़ता के शिकार हैं।[२] यह मोहभंग एक-दो व्यक्तियों का न होकर समूची संघर्षरत स्वतन्त्रताकामी शक्तियों का मोहभंग है जिसका सम्पूर्ण दायित्व उन तत्वों पर जाता है जिन्होंने इतने बड़े आन्दोलन और प्रगतिशील शक्तियों को निराशा, विक्षोभ और कुण्ठा की अन्धेरी गलियों की ओर मोड़ दिया है।

---

whole of man....The worship of love is suffering, its peak is self-immolation, suicide.

- K. Marks and F. Engels. p. 31

१. 'मेरी तेरी उसकी बात': पृ० ६६३।

२. देखिए: डा० मधुरेश: आलोचना, जनवरी-मार्च, १९७६ पृ० ८६।

शहीद और शोहदे (१९७०)

हमारा राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम आन्दोलन कथा की रत्न-मंजूषा है। उसकी पृष्ठभूमि में 'मैला आँचल', 'झूठा सच', 'तमस', 'प्रेम अपवित्र नदी', 'प्रश्न और मरीचिका' आदि अनेक उपन्यास लिखे गये। प्रसिद्ध समाजवादी लेखक मन्मथनाथ गुप्त द्वारा प्रणीत प्रस्तुत उपन्यास में उस आन्दोलन के एक नये अनछूए पहलू को पहली बार इंगित किया गया है -- आन्दोलन में आई०सी०एस० अफसरों की सरकार परस्ती।

रेणु ने 'मैला आँचल' में बावनदास के द्वारा एक हल्का संकेत दिया है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् देश का शासन कैसे-कैसे भ्रष्ट लोगों के हाथों में चला गया। उस महा-यज्ञ में जिन्होंने अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया था, या तो वे महज़ मन्दिर के देवता बनकर रह गये-थक गये या उससे कट गए। प्रस्तुत उपन्यास 'शहीद और शोहदे' में गुप्तजी ने उन राजनीतिक लोगों की बात न कहकर सरकारी तन्त्र के नाभि-श्वास समान नौकरशाही की बात को उठाया है। सरकारें आती हैं और जाती हैं, पर नौकरशाही कायम रहती है। हमारे यहां सरकार में परिवर्तन होने के बावजूद, नीतियों में खास परिवर्तन नहीं आते क्योंकि सरकार को चलाने वाली तो नौकरशाही है।

स्वराज्य के पहले आई०सी०एस० अफसरों के बारे में हमारे नेताओं के विचार कुछ और थे। "शायद मौलाना मोहम्मद अली ने यह कहा था कि न तो आई०सी०एस० इन्डियन है, न सिविल है, न सर्विस है। नेहरू ने भी अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी आफ इन्डिया' में इन के सम्बन्ध में यह कहा था--"ये वे लोग हैं जो अपने ही हितों को भारतीय हित मानते हैं। पहले यह सेवा किसी और रूप में थी, बाद को इसे इन्डियन सिविल सर्विस का रूप मिला, जिसे संसार का सबसे स्वार्थी कर्मचारी संघ बताया गया है। ऐसा और किसी ने नहीं -- एक अंग्रेज लेखक ने कहा है। ये लोग भारत को चलाते थे और ये ही भारत थे। ये यह मानकर चलते थे कि जो कुछ भी उनके लिए हानिकारक है, वह सारे भारत के लिए हानिकारक है।" १

---

१. 'शहीद और शोहदे' : मन्मथनाथ गुप्त : भूमिका से : पृ० ३-४।

परन्तु बाद में यही नेहरू इन नौकरशाह पर सर्वाधिक अवलम्बित रहे। कांग्रेस के अन्दर बहुत-से आदर्शवादी वकील,अध्यापक,बुद्धिजीवी थे जिनका सत्ता की राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था। यदि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् ऐसे लोगों को कुछ महीनों की ट्रेनिंग देकर प्रशासन में लिया जाता तो देश का सत्यानाश न होता। जो आई०सी०एस० आफिसर अंग्रेज सरकार की नाक के बाल थे और जिन्होंने देश के साथ गद्दारी की थी, वे ही बाद में कलक्टर से कमिश्नर बन गये। कांग्रेसी शासन के पतन का एक कारण स्वराज्य के बाद उनकी आई०सी०एस० भक्ति है।

जगदीशप्रसाद, देवीचरण,शंकरदयाल,नागेश, बुद्धिप्रकाश जैसे आफिसर पूरे देश में थे जो अपनी अंग्रेज-परस्ती के प्रदर्शन के लिए पतन की गर्त में भी गिरने में अभिमान का अनुभव करते थे। ये आफिसर उनके सहकर्मी अंग्रेज आफिसरों के आगे तो दुम हिलाते थे,गांधी-नेहरू-पटेल को गाली देते थे, अंग्रेजी राज्य के गुणगान गाते रहते थे ~~पर~~ और अपनी साप्ताहिक बैठकों में सुरा-सुन्दरी में डूबे रहते थे। इन बैठकों में वे अपनी अंग्रेज-परस्ती तथा आन्दोलनकारियों के साथ उनके द्वारा ~~किए गये~~ की गई सख्ती को बढ़ा-चढ़ाकर कहते थे और बाद में अंग्रेज-भक्ति की स्पर्द्धा में नीच से नीच तरीकों का प्रयोग करते थे। ऐसे ही एक बैठक के बाद शंकरदयाल पुलिस कप्तान अमरिकसिंह को साथ लेकर क्रान्तिकारी गिरधारी के घर पहुंच जाते हैं। गिरधारी से जानकारी प्राप्त करने के लिए वे गिरधारी की पत्नी तथा मां को निर्वस्त्र कर देते हैं। इसी समय गिरधारी अप्रत्याशित रूप से संगीनों पर कूदकर अपनी छाती को बेध डालता है। खून का फव्वारा उड़ने लगता है। वे दोनों उसे मरा हुआ समझकर वहां से भाग खड़े होते हैं। शंकरदयाल अपने इस कार्य को गीता द्वारा अनुमोदित करते हैं।[१] यही शंकरदयाल लार्ड वैवल को इसीलिए कोसता है कि उसने गांधी के साथ संधि-करार किया था।[२]

इन आई०सी०एस० अफसरों के कारनामों के साथ दूसरी अनेक घटनाओं का गुम्फन इसमें लेखक ने किया है, जैसे -- अमरिकसिंह द्वारा रामप्रसाद की बेटी सरला के अपहरण की घटना, मुकदमेबाजियां, पुलिस की गैर जिम्मेदारी

---

१. 'शहीद और शोहदे' : पृ० २६। २. वही : पृ० ३३।

एवं गैर कानूनी हरकतें, 'दप्क' के सम्पादक निरंजन और सरकेज- सरोजिनीदेवी की कथा आदि। सरोजिनीदेवी एक विधवा थी। निरंजन का उससे प्रेम था। बाद में वे वैवाहिक-सूत्र से भी बंध जाते हैं। सरला को भी सरूपसिंह नामक एक युवक अंगीकृत कर लेता है। अन्त तक आते-आते उपन्यास बिखरने लगता है। घटनाओं का प्रभावशाली ढंग से निर्वाह नहीं हो पाता। जहां तक उपन्यास के मूल थीम का सम्बन्ध है, लेखक ने उसका निर्वाह भलीभांति किया है। परन्तु अन्य समान्तर -- कथाओं केक साथ वह ताल-मेल नहीं बिठा पाया है।

इसमें लेखक ने स्वराज्य से पहले तक की घटनाओं को ही लिया है तथापि बीज में वृक्ष की भांति स्वराज्य के बाद की घटनाओं का इंगित देने में वह सफल हुआ है।

अन्य उपन्यास : यहां हम कुछ ऐसे उपन्यासों का उल्लेख करने जा रहे हैं जिनकी चर्चा आनेवाले अध्यायों में की गई ~~गयी~~ है किन्तु स्थानाभाव के कारण जिन पर यहां विस्तार से विचार नहीं किया गया है। ~~जने-न्द्र-कृत~~ जैनेन्द्र कृत 'मुक्तिबोध' (१९७४) कामराज योजना की थीम को लेकर लिखा गया है किन्तु उसका मुख्य प्रतिपाद्य तो सहायबाबू के भीतर चलनेवाला वह द्वन्द्व और अन्ततः वह जैनेन्द्रीय चिन्तन ही है। यह उपन्यास नीलिमा के ज्वलन्त व्यक्तित्व के कारण स्मरणीय रहेगा। इसके अतिरिक्त आलोच्य काल में उनके अन्य दो उपन्यास उपलब्ध होते हैं - अनन्तर (१९६८) और अनामस्वामी (१९७४)। रेणु द्वारा प्रणीत उपन्यास 'जुलूस' (१९६५) पूर्व बंगाल से आये शरणार्थियों को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। रेणु की ~~स्वप्नदर्शी~~ स्वप्नदर्शी कलम ने जहां एक ओर नोबिननगर की मुख्य संचालिका के रूप में पवित्रा के चरित्र को उभारा है वहां गोढ़ियार गांव के तालेवर गोढ़ी के द्वारा गांव के लोगों के विश्वास-अन्धविश्वास-मन्त्र-जादू-टोना प्रभृति को उकेरते हुए उस अंचल के यथार्थ को मूर्तिमन्त स्वरूप दे दिया है। रेणु की यह विशेषता है कि कथा वह कोई भी कहे पर अपने समय की बात करना वह कहीं भी नहीं चूकते और यहां भी वे उसमें चूके नहीं हैं। दीर्घतपा (१९६३), कितने चौराहे (१९६६) और कलंक-मुक्ति (अपूर्ण-१९७६) प्रभृति उनके अन्य उल्लेख्य उपन्यास हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'पुनर्नवा' में गुप्तकालीन भारत की सांस्कृतिक छवि को उभारा गया है। 'चारु-चन्द्रलेख' की तुलना में इसकी भाषा कुछ अधिक सरलता

लिए हुए है। इसमें उस काल-विशेष के सामाजिक जीवन का सूक्ष्म विवे- निरूपण हुआ है। तत्कालीन न्याय-व्यवस्था का भी विशद चित्रण इसमें हुआ है। द्विवेदीजी के सद्य प्रकाशित उपन्यास 'अनामदास का पोथा' (१९७७) में उपनिषदकालीन भारत को लिया गया है। प्रेमचन्द के दायित्व का निर्वाह करनेवाले हस्ताक्षरों में हिमांशु श्रीवास्तव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'कथा-सूर्य की नयी यात्रा' में उन्होंने कथा-सूर्य प्रेमचन्द की आत्मा को पुनः धरती पर भ्रमण करते हुए बताकर उसके द्वारा साम्प्रतिक हिन्दी साहित्य की गतिविधियों का व्यंग्यात्मक चित्र उपस्थित किया है। हिन्दी साहित्य में चलनेवाली गुटबन्दियाँ, विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों की सड़ियल स्थिति, प्रकाशकों और स्थापित लेखकों की साठगांठ, सच्चे व प्रामाणिक लोगों की दयनीय स्थिति, बम्बई की फिल्मी दुनिया में लेखक व कवि की हास्यास्पद स्थिति, समीक्षा के नये नुस्खे आदि के व्यंग्यात्मक चित्रण के द्वारा इन सबकी कलई खोलने का एक साहसिक प्रयत्न किया है। भगवतीचरण वर्मा के 'प्रश्न और मरीचिका' में सन् १९४७ से लेकर सन् १९६२ तक की राजनीतिक घटनाओं का लेखा-जोखा उपलब्ध होता है। शैलेश मटियानी कृत 'किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई' में नर्मदाबेन सेठानी के चरित्रांकन के द्वारा उच्च समाज की भद्रता का पर्दाफाश किया गया है। उच्च समाज की रंगीनियाँ तथा निम्न समाज का नारकीय जीवन, दोनों का चित्रण इस में यथार्थ रूप से हुआ है। उक्त कतिपय उपन्यासों के अतिरिक्त अन्य अनेक उपन्यास इस कालावधि में आते हैं जिनकी विस्तृत सूची परिशिष्ट 'ग' में दी गयी है।

निष्कर्ष : अध्याय के समग्राकलन से निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वस्तु एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से उपन्यास में विकास दृष्टिगत किया जा सकता है। रेणु, जैनेन्द्र जैसे कुछ लेखक अपनी पूर्वकालीन रचनाओं से अधिक सशक्त रचनाएँ को देने में असफल हुए हैं, अन्यथा अधिकांश लेखक उत्तरोत्तर सशक्त रचनाओं का प्रणयन कर सके हैं। प्रस्तुत अध्याय में चर्चित उपन्यासों में से वस्तु, भावबोध एवं शैली-शिल्प आदि की दृष्टि से हम 'अमृत और विष', 'यह पथ बन्धु था', 'चारु-चन्द्रलेख', 'अपने अपने अजनबी', 'काला जल', 'नदी फिर बह चली', 'मेरी तेरी उसकी बात', प्रभृति रचनाओं का आलोच्य काल की उपलब्धियों के रूप में दृष्टिगत कर सकते हैं।